खेती का संकट और क्रांतिकारी बदलाव में महिलाओं की भूमिका

जया मेहता और विनीत तिवारी

फ़ोकस ऑन द ग्लोबल साउथ और
जोशी-अधिकारी सामाजिक विज्ञान संस्थान
द्वारा प्रकाशित
रोज़ा लक्सेम्बर्ग स्टिफटुंग - साउथ एशिया
के सहयोग से
फ़रवरी, 2023

लेखक: जया मेहता और विनीत तिवारी, जोशी-अधिकारी सामाजिक विज्ञान संस्थान

डिज़ाइन : विकास ठाकुर

कवर इमेज : गूगल कॉमन्स इमेजिज़

तस्वीर (पन्नों पर) : गूगल कॉमन्स इमेजिज़ और विकास ठाकुर

प्रकाशक : रोज़ा लक्सेम्बर्ग स्टिफटुंग के दक्षिण एशिया कार्यालय के सहयोग से फ़ोकस ऑन द ग्लोबल साउथ एवं जोशी-अधिकारी सामाजिक विज्ञान संस्थान द्वारा प्रकाशित

फ़ोकस ऑन द ग्लोबल साउथ एशिया स्थित एक्टिविस्ट थिंक टैंक है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव के लिए विश्लेषण करने और विकल्प तैयार करने का काम करता है।

जोशी-अधिकारी सामाजिक अध्ययन संस्थान (JAISS) एक शोध संस्थान है जो बड़े पैमाने पर अर्थशास्त्र, राजनीति और सामाजिक संरचना के मुद्दों पर अध्ययन और चर्चा करता है।

यह प्रकाशन रोज़ा लक्सेम्बर्ग स्टिफटुंग द्वारा प्रायोजित है। इसे फ़ेडरल मिनिस्टरी ऑफ़ इकनॉमिक कोऑपरेशन और डेव्लपमेंट ऑफ़ द फ़ेडरल रिपब्लिक ऑफ़ जर्मनी के फ़ंड का सहयोग मिला है। यह प्रकाशन या इसके हिस्से बग़ैर किसी शुल्क के इस्तेमाल किए जा सकते हैं। ऑरिजनल प्रकाशन का उचित संदर्भ देना अनिवार्य है। इस प्रकाशन की सामग्री की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ प्रकाशक की है, और यह आरएलएस की छवि नहीं दर्शाता है।

फ़रवरी, 2023

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

JOSHI-ADHIKARI INSTITUTE OF SOCIAL STUDIES

ROSA LUXEMBURG STIFTUNG SOUTH ASIA

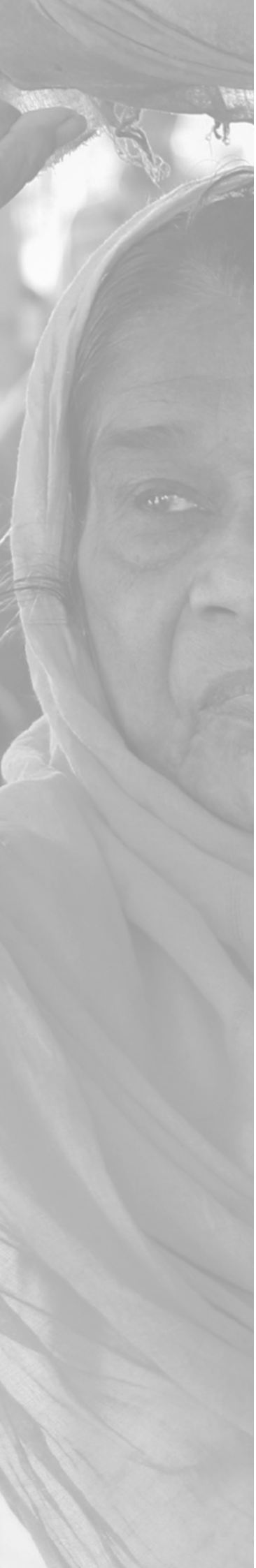

विषय-सूची

-प्रस्तावना -खेती के संकट के विभिन्न आयाम और महिलाओं की बदलावकारी भूमिका 1

खेती का संकट और क्रांतिकारी बदलाव में महिलाओं की भूमिका 5

-खेती में कॉर्पोरेट क्षेत्र और निजी व्यवसाय के हितैषी कृषि कानून 7

-किसानों का विरोध 9

-किसान आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी 11

-किसानों की जीत और अहम उपलब्धियाँ 13

-उदारीकरण की नीतियों का खेती पर असर 14

-खेती का व्यापक परिदृश्य 15

-भूमि और श्रम के संबंधों के पुनर्गठन की तथा खेती में मौजूद मेहनतकश लोगों के लिए रोज़गार की जगह बढाने की ज़रूरत 17

-कृषि में महिलाएँ 21

-अनियमित मज़दूरी में महिलाएँ 21

-खेती में स्वरोज़गार करने वाली महिलाएँ 22

-मुख्य श्रमिक के रूप में महिला किसान 24

-किसान विधवाएँ 25

-प्रवासी मज़दूरों की माँएँ और पत्नियाँ 27

-इंक़लाबी कार्यक्रम में महिलाओं की अग्रणी भूमिका 29

-केरल में कुडुम्बश्री की महिलाओं द्वारा की जा रही सामूहिक खेती 31

प्रस्तावना - खेती के संकट के विभिन्न आयाम और महिलाओं की बदलावकारी भूमिका

11 जनवरी 2004 को मध्य प्रदेश के आदिवासी बहुल ज़िले झाबुआ में एक मिशन स्कूल के कंपाउंड में एक 9 वर्षीय लड़की की लाश बरामद हुई। स्कूल दशकों से ईसाई मिशनरी द्वारा संचालित किया जा रहा था। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। लेकिन इस घटना से ईसाई समुदाय के प्रति इतना ग़ुस्सा भड़का कि झाबुआ ज़िले के तीन चर्च जला दिए गए। उनमें से एक तो क़रीब 100 बरस पुरानी थी। ज़िले के गाँवों में उन आदिवासियों के क़रीब 500 घर जला दिए गए थे जो ईसाई धर्म अपना चुके थे। अनेक ईसाइयों को गिरफ़्तार कर लिया गया। स्कूल से जुड़े हुए 16 ईसाई लोग क़त्ल के इल्ज़ाम में गिरफ़्तार किए गए और दो वर्षों तक जेल में डाले रखे गए। बाद में, न्यायालय ने पाया कि उनके ख़िलाफ़ जो इलज़ाम थे, वे संदिग्ध थे, झूठे थे और उन्हें फँसाने के मक़सद से गढ़े गए थे। उन सभी को छोड़ दिया गया।

घटना की जाँच के लिए नागरिकों का एक स्वतंत्र जाँचदल गठित हुआ। हम उसका हिस्सा बनकर झाबुआ गए। झाबुआ पश्चिमी मध्य प्रदेश में गुजरात की सीमा पर मौजूद है। हमने अनेक गाँव देखे। बहुत से

आदिवासी समूहों से विस्तार से बात की। हमने पाया कि आदिवासी समूह एक-दूसरे को दोषी ठहरा रहे थे। वे कोई निष्पक्ष बात न सुनने को राज़ी थे और न सोचने को। साफ़ था कि सांप्रदायिक ताक़तों ने आदिवासियों के बीच ही ईसाई आदिवासियों और अपने आपको 'हिन्दू' कहने वाले आदिवासियों के बीच एक न भरने वाली चौड़ी दरार पैदा करने में कामयाबी हासिल कर ली थी। दोनों समूह, जो मूलतः आदिवासी ही थे और आपस में रिश्तेदार भी थे, एक-दूसरे के प्रति इस क़दर नफ़रत और दुश्मनी से भरे हुए थे कि ज़रा से उकसावे पर भी वे मरने-मारने के लिए तैयार थे।

लेकिन इस नफ़रत के माहौल, सांप्रदायिक दुश्मनी और हिंसक वारदातों के पीछे का दृश्य भयंकर ग़रीबी और बेरोज़गारी का था। गुजरात के नज़दीक होने के कारण पिछले कुछ वर्षों से कुछ हिंदुत्ववादी संगठन झाबुआ के गाँवों में आकर हिन्दू रीति-रिवाज़ के त्यौहार, कथाएँ, भंडारे आदि करवा रहे थे जिनसे आदिवासियों का आकर्षण उनके प्रति बढ़ रहा था। आदिवासियों का एक हिस्सा बहुत पहले से ही ईसाइयत अपनाये हुए था जो मिशनरी आदि के सहयोग के कारण बेहतर शिक्षा और उसके कारण बेहतर रोज़गार और बेहतर आर्थिक स्थिति में था। यह तुलनात्मक सम्पन्नता उन्हीं के गाँवों के बाक़ी परिवारों के लिए ईर्ष्या का भी बीज बो रही थी। ऐसे में जब उन्हें सांप्रदायिक संगठनों ने हिन्दू होने की पहचान के साथ थोड़ा-बहुत आर्थिक सहयोग और बेहतर भविष्य का सपना दिखाया तो वे जल्द ही इस विभाजनकारी साज़िश का शिकार हो गए।

हमने उसी दौरान झाबुआ और नज़दीक के अलीराजपुर ज़िलों के गाँवों में देखा कि सिंचाई के साधनों का अभाव और आधुनिक खेती के लिए ज़रूरी मशीनों एवं अन्य संसाधनों के न होने से अधिकतर आदिवासी किसान परिवार खरीफ़ की एक ही फ़सल ले पाते हैं, जो मुख्यतः उनके अपने खाने के काम में आती है। बाक़ी वक़्त में वे छः से आठ महीनों तक के लिए आसपास गोधरा, वड़ोदरा आदि शहरों की ओर पलायन करते हैं। इन जगहों पर गेत पत्थर को घिसकर काँच जैसे लगते नक़ली नग बनाने के कारखाने हैं। अपने ज़िले में, गाँव में काम न होने और ज़िंदा रहने का हर मुमकिन जतन करने के लिए ये आदिवासी किसान इन कारखानों में काम करने वाले मज़दूर बन जाते हैं और यहीं से अपनी मौत को दावत दे देते हैं। इन कारखानों में काम करने से उन्हें सिलिकोसिस नाम की एक लाइलाज बीमारी हो जाती है। पत्थर घिसने से उड़ने वाली धूल के बारीक कण उनके फेंफड़ों में बैठ जाते हैं और फिर वो दो-चार वर्षों के भीतर मर जाते हैं। कुछ संगठनों ने सिलिकोसिस से असमय मरने वाले गरीबों की लड़ाई न्यायालय तक लड़ी और वे कुछ नियम क़ानून बनवाने में कामयाब भी हुए लेकिन रोज़गार न होने पर भूख से मरने का इंतज़ार करने के बजाय ये निर्विकल्प बेबस लोग सिलिकोसिस से मरना चुन लेते हैं। इसी तरह राजस्थान के अनेक इलाक़ों में हज़ारों मज़दूर सिलिकोसिस का शिकार हो रहे हैं जो पत्थर काटने का काम करते हैं। विवशता वही है - खेती में उतना काम और आमदनी नहीं है और खेती के बाहर इज़्ज़तदार और सामाजिक सुरक्षा देने वाला कोई क्षेत्र नहीं है जो क़रीब 60-65 करोड़ की विशाल ग्रामीण आबादी को अपने में समा सके। देश की खेती में फैले गंभीर संकट से वो हमारा पहला प्रत्यक्ष वास्ता था।

इतनी अनिश्चितता भरी ज़िंदगी में इंसान का अपने ऊपर से विश्वास हिल जाता है। ऐसे में उसे धर्म या ईश्वर की ओर आसानी से मोड़ा जा सकता है। यही वजह है कि गुजरी शताब्दी के आख़िरी दशक में उदारीकरण, भूमंडलीकरण आदि के प्रवेश के साथ जो तकनीक आयी, उसने लोगों के लिए रोज़गार के जितने अवसर पैदा किये, उससे ज़्यादा लोगों के विवेक को कुंद करने का और अनेक अंधविश्वास फैलाने का काम किया।

वर्ष 2006 में गुजरात के डांग ज़िले में एक शबरी कुम्भ का आयोजन हुआ था। उस वक़्त डांग ज़िले की आबादी क़रीब एक लाख अस्सी हज़ार थी। तक़रीबन 94 फ़ीसदी आबादी आदिवासी थी। एक लाख अस्सी हज़ार में मात्र पाँच प्रतिशत आबादी ईसाई आदिवासियों की थी। शेष गुजरात में ईसाइयों का औसत प्रतिशत

0.05 था। बस, इसे ही मुद्दा बनाकर शबरी कुम्भ का आयोजन किया गया और उन 5 प्रतिशत को डर दिखाने के लिए ज़िले की आबादी से चार गुना हिन्दू लोग उस शबरी कुम्भ के लिए आये और लाये गए। कुछ अनुमानों के मुताबिक़ शबरी कुम्भ में आने वालों की संख्या पांच से आठ लाख के बीच थी। आठ लाख लोगों के खाने, रहने, पानी आदि का इंतज़ाम, लाउड स्पीकर, टेंट हाउस, झंडे-डंडे आदि से करोड़ों का व्यवसाय पैदा हुआ। उसका हिस्सा जिसे मिला, वो इसी धंधे में रच-बस गया। तब से हाल-हाल तक, जब तक किसान आंदोलन ने सरकार को बिलकुल ही बैकफुट पर आने पर मज़बूर न कर दिया, खेती के संकट की तरफ़ गंभीरता से देखने वाली कोई सरकार नहीं थी। जो सांप्रदायिक राजनीति करते हैं, वे सांप्रदायिक ध्रुवीकरण से अपनी सरकार बना रहे थे, और जो घोषित तौर पर वैसी राजनीति नहीं करते, वे क़र्ज़ मुआफ़ी से लेकर सरकारी सब्सिडी बढ़ाने आदि के वादों से खेतिहर समाज से अपने वोट हासिल करने की जुगत कर रहे थे। खेती के जानकार विद्वान् भी उपज बढ़ाने, जैविक खेती करने, न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाने जैसी माँगों और सुझावों पर ही रुके हुए थे। बेशक यह मुद्दे महत्त्व के हैं और इन्हें भी कल पर छोड़ने के बजाय आज ही हल करना चाहिए लेकिन खेती के संकट की बुनियाद को यह मुद्दे भी नहीं स्पर्श करते।

खेती केवल एक क्षेत्र का नाम नहीं है, उसे अर्थशास्त्र की ज़ुबान में प्राथमिक यानी बुनियादी क्षेत्र कहा जाता है। मतलब वह सबसे अधिक प्राथमिकता वाला क्षेत्र है। क्योंकि अनाज अभी भी कारखानों में या शेयर बाज़ारों में पैदा नहीं होता, उसके लिए खेत ही चाहिए होते हैं। आज़ादी के वक़्त हमारी क़रीब 80 फ़ीसदी आबादी गाँवों में रहती थी जो खेती पर या खेती से जुड़े क्षेत्रों पर आजीविका के लिए निर्भर थी। उससे होने वाली आमदनी भी देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का सबसे बड़ा हिस्सा होती थी। आज़ादी के इन 75 वर्षों में शहरीकरण के चलते आज गाँवों में क़रीब 50 फ़ीसदी आबादी बची है लेकिन सकल घरेलू उत्पाद में उसकी हिस्सेदारी पिछले 10 वर्षों में मात्र 14 से 20 फ़ीसदी के बीच रही है। नयी तकनीकों को देखते हुए खेती के क्षेत्र में इतने अधिक लोगों के होने की कोई ज़रूरत नहीं है लेकिन समस्या यह है कि उनके लिए खेती के बाहर भी कोई बेहतर रोज़गार उपलब्ध नहीं है। और उसमें भी महिलाओं की स्थिति और भी बुरी है।

भारत में जिस विकास का मॉडल 21वीं सदी में अपनाया गया है, उसकी विसंगति यह है कि उसने एक तरफ़ भारत को अरबपतियों की क़तार में तीसरे पायदान तक उठा दिया है और दूसरी तरफ़ हम दुनिया के ऐसे देशों की क़तार में भी काफ़ी ऊँचे उठते जा रहे हैं जहाँ भूखे लोगों की बहुत बड़ी आबादी रहती है। बेरोज़गारों की इस शहरी और ग्रामीण फ़ौज का इस्तेमाल सांप्रदायिक, फासीवादी और अन्य मौक़ापरस्त ताक़तें करती हैं।

खेती के संकट का अध्ययन करने के लिए हमने देश के आठ राज्यों में सीमान्त किसानों के कृषि उत्पादन और विपणन का 2010 में एक अध्ययन किया था जिसमें हमने पाया था कि ज़मीन का असमान बँटवारा वो बुनियादी ग़ैर बराबरी है कि उसके ऊपर जो भी संसाधन आते हैं वो असमान ही होते जाते हैं। ज़मीन के बँटवारे को तो अब राजनीतिक एजेंडे से भी दूर किया जा चुका है और किसान संगठनों के आंदोलनों से भी। सीलिंग के ऊपर की खेती की अतिशेष (सरप्लस) ज़मीन राजसात करने और उसे भूमिहीन लोगों के बीच बाँटने की बात भी अब नहीं उठती है। पहले भी इस दिशा में जो काम हुआ था, वह मुख्य तौर पर पश्चिम बंगाल, केरल और कश्मीर में हुआ था। तो ज़मीन का सवाल तो खेती के संकट को हल करने की दिशा में पहला अहम् सवाल है। दूसरा सवाल है खेती में शामिल लोगों का। अगर खेती में इतने लोगों के लिए रोज़गार नामुमकिन हैं तो उनके लिए खेती से जुड़े क्षेत्रों में या कृषि प्रसंस्करण उद्योगों में रोज़गार की योजना बनानी ही होगी। उसके बाद भी जो लोग अतिशेष (सरप्लस) होंगे, उनके लिए निर्माण क्षेत्र में और सेवा क्षेत्र में जगह बनानी होगी। मतलब कृषि संकट का हल सिर्फ़ कृषि में उठापटक करने से नहीं निकलेगा, उसके लिए पूरी अर्थव्यवस्था का पुनर्संयोजन करना होगा।

और यह करेगा कौन? वही सरकार जिसने कॉर्पोरेट और कंपनियों को मुनाफ़ा पहुँचाने के लिए कृषि के तीन काले क़ानून बनाये? बेशक सरकार अपने मन से ऐसा करे या नहीं लेकिन जब देश की जनता उसे क़ानून निरस्त करने पर मजबूर कर सकती है तो वही जनता उसे जनपक्षीय नीतियाँ बनाने और उन पर अमल करने के लिए भी मजबूर कर सकती है।

केरल में कुडुम्बश्री मिशन के तहत की जाने वाली सामूहिक खेती का एक उदाहरण हमें ऐसा देखने को भी मिला, जहाँ सरकार और ग्रामीण महिलाएँ मिलकर खेती के संकट से निपटने के कुछ सहकारी प्रयास कर रहे हैं। केरल में सहकारिता आंदोलन पूरे देश के किसी भी अन्य राज्य की तुलना में सबसे मज़बूत है। केरल में सहकारिता आंदोलन का इतिहास भी काफ़ी पुराना है। यहाँ कोऑपरेटिव सोसाइटीज़ के रजिस्ट्रार के पास 15,000 कोऑपरेटिव संस्थाएँ रजिस्टर्ड हैं। बहुत से कोऑपरेटिव बैंक हैं, डेरी कोऑपरेटिव हैं और खेती एवं अन्य क्षेत्रों में भी अनेक सर्विस कोऑपरेटिव हैं। केरल में क़रीब 100 वर्ष पुरानी निर्माण मज़दूरों की उरलुंगल लेबर कॉन्ट्रैक्ट कोऑपरेटिव सोसाइटी मज़दूरों की एशिया की सबसे बड़ी कोऑपरेटिव सोसाइटी है। अपने पहले के अध्ययन में हमें त्रिशूर ज़िले में किसानों की एक सहकारी संस्था अडाट फार्मर्स कोऑपरेटिव के बारे में पता चला था। यह कोऑपरेटिव 1980 में शुरू हुआ था और धान की खेती को पुनर्जीवित करने में, जैविक खेती को बढ़ाने में और अपने सदस्यों के कृषि उपज को सही दामों पर बिकवाने में अहम भूमिका अदा की है।

कुडुम्बश्री मिशन के तहत की जाने वाली सामूहिक खेती की बुनियाद ऐसे इतिहास की ताक़त पर रखी गयी है। इस कार्यक्रम की योजना और विचार केरल की वाम मोर्चा सरकार का ही था और इसे सरकार का समर्थन भी हासिल है। पूरा कुडुम्बश्री मिशन राज्य के सभी 14 ज़िलों में फैला हुआ है और 40 लाख से ज़्यादा औरतें इसकी सदस्य बन चुकी हैं। सामूहिक खेती पूरे कुडुम्बश्री मिशन के तहत चलने वालीं ढेरों गतिविधियों में से सिर्फ़ एक गतिविधि है। केंद्रीय स्तर पर कुडुम्बश्री मिशन को राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन की नोडल एजेंसी बनाया गया है।

वर्ष 2013 में हमने कुडुम्बश्री के साझा खेती कार्यक्रम का प्राथमिक सर्वेक्षण और अध्ययन करना तय किया था। उसके नतीजों की भी हम चर्चा करेंगे और खेती के संकट के विभिन्न आयामों को समझ कर एक बदलावकारी कार्यक्रम की योजना जिसमें महिलाओं की एक अहम भूमिका हो सकती है, भी रखेंगे।

खेती का संकट और क्रांतिकारी बदलाव में महिलाओं की भूमिका

जया मेहता और विनीत तिवारी

45 वर्षीय हीरा मुकाने महाराष्ट्र के ठाणे ज़िले के दलखान गाँव में रहने वाली एक आदिवासी महिला है। वो अपने 52 वर्षीय पति विट्ठल, 27 वर्षीय बेटे मनोज, 25 वर्षीय बहू शालू और 15 वर्षीय बेटी संगीता के साथ रहती हैं। विट्ठल को सिकल सेल की बीमारी है। उसे महीने में दो बार ख़ून चढ़वाने जिला अस्पताल जाना होता है।

हीरा, मनोज और शालू पड़ोसी किसानों के खेतों में काम करने जाते थे। बुवाई-कटाई के वक़्त उन्हें 100 रुपये रोज़ तक का रोज़गार मिल जाता था। अतिरिक्त आमदनी के लिए मनोज ठाणे, कल्याण और मुंबई में निर्माण मज़दूर का काम भी करता था। परिवार के सभी लोगों के काम करने से जो कमाई होती थी, वो बस घर की बहुत ज़रूरी ज़रूरतें पूरी करने लायक़ ही होती थी, मसलन चावल, तेल, नमक और विट्ठल की बीमारी में लगने वाला ख़र्चा।

वर्ष 2017 में तनी हुई रस्सी पर बड़ी मुश्किल से संतुलन साधे चलने वाले इस घर का संतुलन तब बिगड़ गया जब मुंबई-नागपुर एक्सप्रेस-वे बनना शुरू हुआ। हाईवे के लिए उन किसानों ने अपनी ज़मीनें बेच दीं जिनके खेतों पर मज़दूरी करने से हीरा और बाकियों को रोज़गार मिलता था। ज़मीनें खेती से बाहर सड़क में चली गईं और इनके रोज़गार भी सड़क के नीचे दफ़न हो गए। जब पूरे सालभर उन्हें काम नहीं मिला तो ज़िंदा रहने के लिए हीरा और उसके परिवार ने पालघर ज़िले के गंजाल गाँव में ईंटों के भट्टों में काम ढूँढने का फैसला किया। जन्म से जिस गाँव में रहते आये थे, उसे छोड़ने का फैसला बहुत कठिन था लेकिन मजबूरी थी सो हीरा, मनोज और शालू ने मार्च, 2020 में गंजाल जाना तय किया। उनकी उम्मीद थी कि वे मई तक काम करके पचास हज़ार रुपये कमा लेंगे और अपने गाँव वापस आ जाएँगे। उनकी उम्मीद पर आसमान गिर गया जब कोविड-19 की वजह से पूरे देश में लॉकडाउन लगा दिया गया। ईंट भट्टे के मालिक ने काम बंद करके सभी मज़दूरों को अपने घर-गाँव जाने के लिए कह दिया। परिवहन के सारे साधन भी तत्काल बंद कर दिए गए। बसें, रेलें सभी कुछ बंद था। कोई चारा न देख 26 मार्च को हीरा, मनोज और शालू ने पैदल ही अपने घर की ओर चलना शुरू कर दिया। लगातार 21 घंटे तक पैदल चलते रहकर उन्होंने 104 किलोमीटर का सफ़र तय किया। रास्ते में कहीं भी वे सुस्ताने के लिए नहीं रुके। इतना कष्ट उठाकर वे अपने गाँव भोर में पहुँच गए। जब वो वापस पहुँचे तो उनके साथ उनके कपड़े, बर्तन, 12 किलो चावल की बोरी, 8 किलो रागी का आटा और मज़दूरी से हासिल महज 8 हज़ार रुपये थे जबकि उम्मीद 50 हज़ार रुपये की थी। इस छुटपुट सामान के अलावा उनके साथ उनके टूटे-फूटे सपने भी थे जिन्हें जोड़कर फिर से नयी उम्मीदें बनानी थीं।

(*ज्योति शिनोली की रिपोर्ट, पीपल्स आर्काइव ऑफ़ रूरल इंडिया द्वारा 17 अप्रैल 2020 को प्रकाशित*)

यह छोटी-सी रिपोर्ट पुरुषों और महिलाओं की उस बड़ी आबादी के जीवन में कायम नाज़ुक संतुलन का अंदाजा देती है जिनकी रोज़ी-रोटी खेती पर निर्भर है। यह हमें उस अभिजात्य भारत के विकास की प्राथमिकताएँ भी बताती है जिनके चलते हाशिये पर पड़े लोगों की ज़िंदगियाँ तबाह हो जाती हैं। यह सरकार के कोविड-19 के जवाब में की गई उस अनियोजित और लापरवाह कार्रवाई को भी बताती है जिसमें जगह-जगह पर काम की वजह से अपने घरों से दूर फँसे करोड़ों मज़दूरों के लिए ये ख़याल तक नहीं किया गया कि रोज़ कमाकर खाने वालों का क्या होगा और दूरदराज के रहवासी मज़दूर अपने घरों तक वापस कैसे जाएँगे। इन सब चीज़ों के अलावा ये रिपोर्ट हमें हाशिये पर रहने वाले इंसानों की जिजीविषा भी बताती है। उनके भीतर का यही लोहा उन्हें भीषण प्रतिकूल हालात में भी ज़िंदा रखता है और टूटने नहीं देता।

केवल 4 घंटे की चेतावनी देकर देशव्यापी लॉकडाउन घोषित कर दिया गया। इससे वैसे तो पूरे देश में ही अफ़रा-तफ़री का माहौल बन गया था लेकिन सबसे भीषण दृश्य दिखे प्रवासी मज़दूरों के। एकाएक लिए गए इस फैसले से प्रवासी मज़दूरों के सामने एक अभूतपूर्व संकट खड़ा हुआ और उसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचा। यकबयक लिए गए इस फैसले से शहरों में कारखाने, निर्माण कार्य, दुकानें सब बंद हो गए और लाखों-लाख मज़दूर बिना खाने, बिना पैसे और बिना सहारे के सड़कों पर आ गए। वे रेलवे स्टेशनों पर और बस अड्डों पर झुण्ड के झुण्ड पहुँचे ताकि वे अपने घर-गाँव जा सकें। लेकिन वहाँ कोई बस या ट्रेन नहीं थी। हीरा, मनोज और शालू की तरह के ही लाखों मज़दूरों ने सैकड़ों किलोमीटरों का सफ़र झुलसाती धूप में पैदल ही तय किया। उनमें बुजुर्ग लोग भी थे, बीमार भी और अपाहिज भी, और उनमें औरतें भी थीं और उनके बच्चे भी। वो आग बरसाते दिनों में चले और स्याह मुर्दा रातों में भी। बताते हैं कि इस महाभीषण सफर में भूख, थकान, पुलिस की ज़्यादतियों और सड़क और रेल दुर्घटनाओं में मरने वाले मज़दूरों की संख्या 981 थी।

सितम्बर, 2020 में श्रम एवं रोज़गार मंत्रालय ने संसद में बताया कि सरकार के पास इन प्रवासी मज़दूरों की मृत्यु के बारे में कोई रिकॉर्ड नहीं है जो अपने काम की जगहों से अपने गाँवों तक पैदल चलकर गये थे।

महामारी के दौर का ये भयानक अध्याय था। लेकिन यह तो बस जैसे एक त्रासद नाटक की शुरुआत भर थी। अकस्मात देश पर थोपे गए लॉकडाउन की घोषणा के डेढ़ महीने बाद 12 मई 2020 को प्रधानमंत्री ने देशवासियों की मदद करने और महामारी और लॉकडाउन से बेपटरी हुए जनजीवन को राहत पहुँचाने के मक़सद से 20 लाख करोड़ रुपये के एक विशाल पैकेज की घोषणा की। अगले पाँच दिनों तक वित्तमंत्री निर्मला सीतारमण इस पैकेज में शामिल प्रावधानों को विस्तार से समझाती रहीं। तीन दिन बाद 15 मई 2020 को उन्होंने राहत पैकेज का तीसरा भाग घोषित किया जिसमें कृषि के क्षेत्र में 11 कदम उठाये गए थे। इनमें ढाँचागत विकास के लिए कोष बनाना, छोटे खाद्य उपक्रमों (माइक्रो फ़ूड इंटरप्राइजेज) को व्यवस्थित और संगठित करना, मवेशियों के टीकाकरण का अभियान चलाना, आदि चीज़ें शामिल थीं। लेकिन वित्तमंत्री महोदया ने जो सबसे अहम कदम उठाया, वो था - राहत पैकेज के नाम पर खेती के बाज़ार की संरचना में तीन सुधार लागू करना।

इन सुधारों में से एक था आवश्यक वस्तु अधिनियम में संशोधन। दूसरा था - राज्य सरकारों के कृषि उपज मंडी अधिनियम को समाप्त करना और इसी से जुड़ा हुआ तीसरा था कि मंडी अधिनियम समाप्त करके किसानों और कंपनियों के बीच अनुबंध खेती या ठेका खेती या कॉन्ट्रैक्ट फार्मिंग को औपचारिक स्तर पर स्वीकृति देना। यह तीनों ही सुधार कृषि उपज के बाज़ार को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने के मक़सद से लाये गए थे। जब महामारी और लॉकडाउन की वजह से कृषि का संकट और पूरी अर्थव्यवस्था का संकट और गहरा हो गया था और जिस वक़्त बेहाल परेशान छोटे किसानों और भूमिहीन मज़दूरों को सरकार के सहारे, संरक्षण और मदद की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, तब सरकार ने इन तीन तथाकथित सुधारों की घोषणा करके कॉर्पोरेट क्षेत्र और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को कृषि बाज़ार तक पहुँचने का और बेहिसाब मुनाफ़ा कमाने का आसान रास्ता मुहैया करवाया।

खेती में कॉर्पोरेट क्षेत्र और निजी व्यवसाय के हितैषी कृषि कानून

निर्मला सीतारमण द्वारा घोषित किये गए तीनों सुधारों को कैबिनेट की मंजूरी मिल गई और 5 जून 2020 को राष्ट्रपति द्वारा तीन अध्यादेश जारी कर दिए गए - 1. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 में संशोधन अध्यादेश, 2. किसानों की उपज, व्यापार एवं वाणिज्य (प्रोत्साहन एवं सुगमीकरण) अध्यादेश, और 3. (किसानों के सशक्तिकरण एवं संरक्षण हेतु) मूल्य निर्धारण एवं कृषि सेवाओं पर समझौते का अध्यादेश। जब संसद का मानसून सत्र 14 सितम्बर 2020 को शुरू हुआ, तब ये तीनों ही अध्यादेश लोकसभा और राज्यसभा, दोनों ही सदनों में रखे गए और पारित हो गए। संसद में पारित इन तीनों विधेयकों पर राष्ट्रपति महोदय ने भी अपनी स्वीकृति की मोहर 27 सितम्बर 2020 को लगा दी और वे क़ानून बन गए। अगर ये क़ानून अमल में लाये जाते तो इनका असर कृषि के बाज़ार की संरचना पर कैसा होता, आइए देखते हैं।

आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 में संशोधन

आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 के ज़रिये आवश्यक कृषि उत्पादों के लागत मूल्य और वितरण की व्यवस्था पर नियंत्रण रखने के प्रावधान बनाये गए थे। इन आवश्यक वस्तुओं की सूची में खाद्य सामग्री, उर्वरक, दवाएँ, पेट्रोलियम, जूट आदि सामान आते थे। इस अधिनियम में संशोधन करके इस सूची में से दालें, तिलहन, खाद्य तेल, प्याज और आलू जैसी वस्तुएँ निकाल दीं। इस तरह, इन वस्तुओं पर जो बाज़ार संबंधी प्रतिबन्ध होते थे, जैसे इनका भण्डारण एक सीमित मात्रा में ही किया जा सकता था या इन वस्तुओं के एक जगह से दूसरी जगह तक परिवहन भी शासकीय निर्देशन और निरीक्षण में होता था, ऐसे प्रतिबंध हटा दिए गए। यहाँ तक कि इन वस्तुओं के व्यापार के लिए लाइसेंस लेने की बाध्यता को भी हटा दिया गया।

किसानों की उपज, व्यापार एवं वाणिज्य (प्रोत्साहन एवं सुगमीकरण) अधिनियम

उन्नीस सौ सत्तर के दशक में तमाम राज्य सरकारों ने कृषि उपज मंडी समिति क़ानून (एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केटिंग कमिटी एक्ट या एपीएमसी एक्ट) बनाया था जिससे किसानों का शोषण रुक सके और उन्हें उनकी उपज का वाजिब दाम मिल सके। कृषि उपज मंडी समिति क़ानून में यह ज़रूरी शर्त है कि कृषि उत्पाद सिर्फ़ मंडी प्रांगण में ही बिक सकेंगे और इसके लिए खुली बोली लगा करेगी। एपीएमसी एक्ट के ज़रिये सरकार व्यापार को नियंत्रण में रखती है। वो ख़रीददारों को लाइसेंस देती है, कमीशन एजेंट यानि दलालों को और निजी व्यापारियों को भी लाइसेंस देती है। मंडी समिति बेचने-ख़रीदने के इस व्यवसाय को सुचारु ढंग से चलाने के लिए बुनियादी ढाँचा और सुविधाएँ मुहैय्या करवाती है, मसलन, कृषि उत्पाद तौल और ग्रेडिंग की व्यवस्था और सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य तय करने की नीलामी की व्यवस्था, आदि। शासन की कृषि मंडी में या समिति द्वारा लाइसेंस प्राप्त निजी कृषि मंडी में होने वाले सभी लेन-देन पर सरकार एक निर्धारित शुल्क (लेवी) भी वसूल करती है। भारतीय खाद्य निगम (फ़ूड कॉर्पोरेशन ऑफ़ इंडिया या एफसीआई) भी अनाज के भण्डारण हेतु अपनी ख़रीद इन्हीं मंडियों से किया करता है।

नये क़ानून के मुताबिक़ किसानों के लिए अब यह बाध्यकारी और ज़रूरी शर्त नहीं रहेगी कि वे अपनी कृषि उपज को कृषि उपज मंडी समिति की मंडियों में या समिति द्वारा लाइसेंस दी गई मंडियों में ही बेचें। नया क़ानून यह इजाज़त देता है कि एपीएमसी अधिनियम के तहत राज्य सरकार द्वारा स्थापित मंडियों के बाहर भी अपनी कृषि उपज बेची जा सकती है। यानि किसान अपनी खेती की पैदावार को कारखानों में, गोदामों में, कोल्ड स्टोरेज में या खेत में, या कहीं भी बेच सकते हैं। नये क़ानून के मुताबिक़ जहाँ कहीं भी ये ख़रीद होगी, वहाँ तौल और भुगतान आदि के लिए इलेक्ट्रॉनिक प्लेटफॉर्म स्थापित किये जा सकेंगे। और भी महत्त्वपूर्ण बात नये क़ानून में यह है कि कृषि उपज की इन नयी जगहों पर होने वाली ख़रीद-बिक्री के सौदों पर सरकार की कोई लेवी नहीं लगेगी।

(किसानों के सशक्तिकरण एवं संरक्षण हेतु) मूल्य निर्धारण एवं कृषि सेवाओं पर समझौते का अधिनियम

इस क़ानून को बनाने का मक़सद देश भर में ठेका खेती को प्रोत्साहित और प्रसारित करने के लिए एक संस्थागत ढाँचे का निर्माण करना था। ठेका खेती को संविदा खेती भी कहते हैं। ठेका खेती में किसान और ख़रीददार (कंपनी) के बीच में वास्तव में फ़सल आने के पहले ही फ़सल की क़ीमत, उसकी गुणवत्ता और मात्रा के बारे में अनुबंध या क़रार हो जाता है। इस क़ानून में किसान और ख़रीददार कंपनी के बीच किसी भी क़िस्म का विवाद होने की स्थिति में एक बोर्ड बनाने का प्रावधान भी था जो विवादों का समाधान करता। यदि विवाद बोर्ड के हस्तक्षेप के बाद भी सुलझता नहीं है तो फिर इसे सब डिविजनल मजिस्ट्रेट के कोर्ट में ले जाया जा सकता था। अगर वहां भी विवाद का निपटारा नहीं होता है तो फिर जिला मजिस्ट्रेट के सामने अपील की जा सकती थी। यह क़ानून किसानों को उससे आगे जाने की इजाज़त नहीं देता था।

किसानों का विरोध

तीनों ही क़ानून इस तरह बनाये गए थे कि बड़ी-बड़ी कंपनियों को, कॉर्पोरेट क्षेत्र को, खेती में व्यवसाय करने वाली कंपनियों को खेती के क्षेत्र में अधिक जगह मिले और उनके लिए सुगमता हो तथा राज्य अपनी ज़िम्मेदारियों से पीछे हट जाए। किसानों ने इन क़ानूनों के किसान विरोधी और कॉर्पोरेट परस्त चरित्र को साफ़ पहचाना। उन्होंने खेती के बाज़ार से राज्य के हटने और उस जगह को निजी कंपनियों के हवाले करने के सरकार के फैसले को मानने से इंकार कर दिया।

उसके बाद किसानों ने सरकार के इस कॉर्पोरेटपरस्त कदम का जो ज़बर्दस्त विरोध किया, उसने देश ही नहीं, सारी दुनिया को अचंभित कर दिया।

26 नवंबर 2020 को दसियों हज़ार किसान राजधानी दिल्ली की पाँच अलग-अलग सीमाओं पर इकट्ठे हुए और इन तीनों किसान विरोधी काले क़ानूनों को वापस लेने की एकसूत्रीय माँग लेकर डेरा डाल दिया। देशभर के 500 से ज़्यादा किसान संगठन इकट्ठे हुए और एक "संयुक्त किसान मोर्चा" (एसकेएम) गठित किया गया। यह एसकेएम किसान आंदोलन का केन्द्रीय अंग बना जिसका काम हर स्तर पर आंदोलन की योजना, रणनीति बनाना, सभी किसान संगठनों में समन्वय क़ायम रखना और सरकार के साथ बातचीत करना था। लेकिन किसान आंदोलन की ख़ासियत यह थी कि उसके साथ केवल यह 500 किसान संगठन ही नहीं जुड़े थे बल्कि तेज़ी से ग्रामीण भारत का हर तबक़ा आंदोलन के साथ जुड़ता चला गया। बेशक आंदोलन की शुरूआत पंजाब और हरियाणा के संसाधन संपन्न और मध्यम स्तरीय किसानों द्वारा हुई थी क्योंकि इसी तबके को सरकार की भंडारण प्रक्रिया में न्यूनतम समर्थन मूल्य का लाभ मिलता है। सरकार द्वारा प्रस्तावित तीनों क़ानूनों का सबसे पहला और सीधा हमला इन किसानों की आर्थिक स्थिरता पर ही होने वाला था। लेकिन उनके साथ जल्द ही सीमान्त और छोटे किसान, बँटाई पर खेती करने वाले किसान, और तो और खेत मज़दूरी करने वाले भूमिहीन मज़दूर भी जुड़ गए। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि इन नये कृषि क़ानूनों के लागू होने से उनकी पहले से ही कमज़ोर आजीविका पर भी गहरा आघात होगा, भले वह आज न होकर कल हो। जो किसान अपना कृषि उत्पाद सरकारी मंडियों में बेचा करते थे, उन्हें लगा कि सरकारी मंडियाँ ख़त्म होने से आज मंडियों की जगह जाएगी और कल उनकी ज़मीन भी उनसे छिन जाएगी। किसान आंदोलन के धरना स्थलों पर मौजूद अनेक किसानों का यही जवाब होता था कि ये क़ानून किसान की ज़मीन किसान से छीन लेंगे और बदले में उन्हें कोई ठोस आजीविका का विकल्प भी नहीं देंगे। जो भूमिहीन मज़दूर थे, उन्हें अपनी मज़दूरी खोने के डर ने जकड़ लिया। कम्पनियाँ आएँगी तो और ज़्यादा

काम मशीनों से होगा और उनके अपने कामगार-मज़दूर होंगे। वे भला खेत मज़दूरों के रोज़गार की परवाह क्यों करेंगी। और आख़िरकार सभी शहरी और ग्रामीण ग़रीब और माध्यम वर्ग के लोगों को भी यह डर सताने लगा कि अगर सरकार भारतीय खाद्य निगम (फ़ूड कारपोरेशन ऑफ़ इंडिया या एफसीआई) को बंद कर देगी तो फिर सरकारी राशन प्रणाली जिसे हम सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पब्लिक डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम या पीडीएस) के नाम से जानते हैं, और जिसका काम सबसिडी आधारित मूल्य पर राशन मुहैय्या कराना है, वो भी बंद हो जाएगी। आंदोलन के धरना स्थलों पर रोज़-ब-रोज़ जनता बढ़ती गई। उनमें ऐसे भी थे जिन्हें खेती के काम से सीधा कोई जुड़ाव नहीं था लेकिन उन्हें किसानों के आंदोलन का मुद्दा सही लगता था। किसानों के आंदोलन से शहरी ग़रीब भी जुड़ गए। आंदोलन में शामिल लोगों में सभी वर्गों, सभी राज्यों, सभी जातियों, सभी धर्मों के मर्द और औरत मौजूद थे। विद्यार्थियों ने, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने, कलाकारों ने, लेखकों ने किसान आंदोलन के साथ एकजुटता जतायी और कई-कई दिनों तक धरना स्थलों पर किसानों के साथ मौजूद रहे। केंद्रीय ट्रेड यूनियनों के संयुक्त मोर्चे ने भी किसानों के संयुक्त मोर्चे के साथ अपनी एकजुटता जतायी और बड़ी शिद्दत से पूरे समय क़ायम रखी। कामगार तबके ने अपनी एकजुटता प्रदर्शित करने के लिए एकाधिक बार देशव्यापी हड़तालें कीं। दूसरी ओर, किसानों के आंदोलन को हरियाणा और उत्तर प्रदेश की समुदाय आधारित पारम्परिक खाप पंचायतों ने भी समर्थन दे दिया। सितम्बर 2021 में किसानों ने मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले में किसानों की महापंचायत आयोजित की और वहाँ से हिन्दू-मुस्लिम एकता का आह्वान किया गया। मुज़फ़्फ़रनगर पश्चिमी उत्तर प्रदेश का वही जिला है जो 2013 के सांप्रदायिक दंगों में बुरी तरह तहस-नहस हो गया था।

किसान अपनी जगह डटे थे, सरकार अपनी ज़िद पर अड़ी थी। समस्या का कोई समाधान ढूँढ़ने की दिशा में सरकार और संयुक्त किसान मोर्चा के प्रतिनिधियों के साथ 11 दौर की वार्ता चली, लेकिन बेनतीजा रही। आंदोलनरत किसान तीनों क़ानूनों को वापस लिए जाने से कम पर कोई बात सुनने को राजी नहीं थे। आख़िरकार, जनवरी 2021 में सर्वोच्च न्यायालय ने तीनों क़ानूनों को लागू करने के ऊपर स्टे लगा दिया। फिर भी किसान दिल्ली की सीमाओं से हटे नहीं। उनका धरना-विरोध जारी रहा। लंबा संघर्ष चलाने के लिए संसाधन जुटाये गए। इन धरना स्थलों पर बड़ी तादाद में गाँवों से आये बुजुर्ग किसान भी थे। उनकी सेहत उतनी चाक-चौबंद नहीं थी। लेकिन वे भी बैठे रहे। हड्डियों को जमा डालने वाली कड़कड़ाती ठण्ड, झुलसा देने वाली बेतहाशा गर्मी और मूसलाधार बारिश में वे सब आंदोलन को थामे रहे और मज़बूती देते रहे। क़रीब एक साल तक चले किसान आंदोलन में 700 किसानों ने अपनी शहादत दी।

ख़राब सेहत, मुश्किल हालात और मानसिक तनाव ने आंदोलनकारियों की जान ली। कुछ दुर्घटनाओं में मारे गए। लखीमपुर खीरी में में तो कुछ आंदोलनकारी और एक पत्रकार, आंदोलन को कुचलने वालों के हमले का शिकार होकर मरे। आंदोलन को तोड़ने की और बदनाम करने की साज़िशें की गईं। ज़िम्मेदार पदों पर बैठे लोगों ने ग़ैर-ज़िम्मेदाराना बयान दिए। फिर भी धरना स्थलों पर लोगों के इरादों की बुलंदी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। वे अपनी इसी बात पर क़ायम रहे कि हम यहाँ थे और जब तक हमारी माँगें नहीं मानी जाएँगी, हम यहीं डटे रहेंगे। जितने समय आंदोलन चला, उसमें शामिल लोगों में कोई हताशा नहीं थी, 26 जनवरी 2021 की दिल्ली की घटना का अपवाद छोड़ दिया जाए तो उकसावे के बावजूद उन्होंने कभी भी हिंसा का सहारा नहीं लिया। और न ही उनके संयुक्त किसान मोर्चे में आंदोलन के चलते कोई फूट पड़ी। किसान आंदोलन को लगभग सभी विपक्षी राजनीतिक दलों ने सहयोग और समर्थन दिया लेकिन किसान आंदोलन के नेताओं ने अपने आंदोलन में राजनीतिक दलों के लोगों को शामिल होने की अनुमति नहीं दी। किसान आंदोलन निस्संदेह अपने पूरे चरित्र में राजनीतिक था जिसका साफ़ राजनीतिक कार्यक्रम था। वो था नव-उदारवादी नीतियों का स्पष्ट और प्रखर विरोध, तथा असंगठित क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में व सार्वजनिक क्षेत्र में कॉर्पोरेट के क़ब्ज़े का विरोध। वर्ष 2020-21 का किसान आंदोलन इतिहास में एक मील के पत्थर की तरह घटित हुआ और कॉर्पोरेट दुनिया के सामने वह "भारत की जनता" के संघर्ष का यादगार प्रतीक बन गया।

किसान आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी

जब भी खेती-किसानी करने वाले लोग अपनी ज़मीन और अपनी आजीविका को ताक़तवर तबके से बचाने के लिए उठ खड़े हुए हैं, उस समुदाय की महिलाओं ने पूरी ताक़त से समुदाय के पुरुषों के कंधे से कन्धा मिलाकर संघर्षों में भागीदारी की है। आज़ादी के आंदोलन में भी महिलाओं की भागीदारी ने देश की चेतना को व्यापक रूप से जागृत किया था। ख़ासतौर पर 1920 के बाद से जब महात्मा गांधी ने 18-सूत्रीय निर्माण कार्यक्रम में और सभी बड़े असहयोग आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी पर प्रमुखता से ज़ोर दिया था, महिलाएँ ज़ोर-शोर से आज़ादी के आंदोलन का हिस्सा बनीं। गांधीजी के आंदोलन में बड़ी तादाद में छोटे किसान और महिलाएँ शामिल होती थीं। किसानों के आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को व्यापकता में बेहतर समझा जा सकता है। आज़ादी के आंदोलन से उपजी प्रेरणा ने किसानों और महिलाओं को मोर्चों में आने के

लिए तैयार किया था। चाहे तेलंगाना का सशस्त्र विद्रोह हो, चाहे तेभागा आंदोलन हो और चाहे बहादुराना वरली विद्रोह हो, महिलाओं ने जिस साहस और दृढ़ता का प्रदर्शन किया, वह आश्चर्यजनक था। हाल में 2020-21 के किसान आंदोलन में भी महिलाएँ ऐसी ही दृढ़ता और मज़बूती के साथ मोर्चों पर डटी हुईं थीं। किसानों की ज़मीनों और रोज़ी-रोटी पर कॉर्पोरेट पूँजी द्वारा हड़प लिए जाने का ख़तरा मंडरा रहा था। इस अहसास ने भारत के किसान समुदाय में मौजूद स्त्रियों और पुरुषों, दोनों की ही चिंताओं और प्रतिरोध की आग को भड़का दिया।

जनवरी के महीने में जब भरी बारिश की वजह से मौसम का मिजाज़ सख्त हुआ, सुप्रीम कोर्ट ने मशविरा दिया कि धरने पर बैठे किसानों में से कम से कम औरतों और बुज़ुर्गों को यह समझाया जाए कि वे वापस घर चले जाएँ क्योंकि उन्हें ख़तरे में डालना मुनासिब नहीं है। महिलाओं ने इस मशविरे को अपनी ताक़त और मुश्किल हालात का सामना करने की अपनी क्षमता के लिए एक चुनौती की तरह लिया और वे डटी रहीं। न केवल वे डटी रहीं बल्कि और बड़ी तादाद में पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से धरना स्थल पर इकट्ठी होती गईं। वे अकेली आयीं। दूर-दरराज के इलाक़ों से आयीं। ख़ुद आयीं तो आयीं, वे अपने साथ अपने पूरे परिवार को भी ले आयीं और साथ में गाँव-पड़ोस-रिश्तेदारी से और भी महिलाओं को ले आयीं। ग़ौरतलब है कि ये सभी इलाक़े पितृसत्तात्मकता के गहरे असर वाले हैं। महिलाएँ अपने छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चों को साथ लेकर आयीं और अपने घरों से दूर पूरे उत्साह और प्रतिबद्धता के साथ आन्दोलन में अपने किसान होने की पहचान के साथ शामिल रहीं। वहाँ 70 वर्ष की उम्र वाली बुजुर्ग महिलाएँ भी थीं, अपने तजुर्बे और खेतों में काम करने की अपनी गौरवशाली चमक के साथ। वे सभी महिलाएँ मज़बूती से और बिना थके आंदोलन में डट कर बैठी रहीं। उनमें समृद्ध जाट परिवारों की महिलाएँ भी थीं और भूमिहीन अनुसूचित जाति वाली अनेक ग़रीब महिलाएँ भी थीं।

वे केवल पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ही नहीं इकट्ठी हुई थीं बल्कि किसान आंदोलन के साथ एकजुटता दिखाने के लिए मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, राजस्थान, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के ग्रामीण इलाक़ों से भी आयीं थीं। उनमें भी ज़्यादातर भूमिहीन खेत मज़दूर महिलाएँ थीं जो किसी न किसी संगठन से जुडी थीं लेकिन अपनी एक दिन की भी मज़दूरी छोड़कर आना उन औरतों के लिहाज से बहुत बड़ा त्याग था।

8 मार्च 2021 को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाने के लिए क़रीब 50,000 से ज़्यादा महिलाएँ सिंघु और ठीकरी बॉर्डर पर इकट्ठा हुईं। वे फिर इकट्ठा हुईं दिल्ली के जंतर-मंतर पर 26 जुलाई 2021 को अपनी किसान पहचान के साथ महिला किसान संसद के आयोजन के लिए। इस बार उन्होंने नज़दीकी ज़िलों से भी और महिलाओं को बुलाया। बेशक उन्होंने खेती के बारे में सरकार के लाये तीनों किसान विरोधी काले क़ानूनों का विरोध किया लेकिन साथ ही उनके प्रतिनिधियों ने देश की राजनीति में अपनी हिस्सेदारी साझा करने के लिए संसद में 33 प्रतिशत आरक्षण की भी माँग रखी।

यह विशेष तौर पर रेखांकित करना ज़रूरी है कि महिलाओं की हिस्सेदारी इस किसान आंदोलन में सिर्फ धरना स्थल पर विरोध प्रदर्शन में बैठने तक ही नहीं थी। वे गाँवों में भी थीं जहाँ उन्होंने घर के काम के साथ-साथ खेतों का वो सब काम भी किया जो आमतौर पर मर्द किया करते थे। ताकि उनके परिवारों के मर्द किसान आंदोलन के लिए पूरा वक़्त दे सकें। गाँवों में भी बड़े व छोटे-छोटे समूहों में इकठ्ठा होतीं और आंदोलन के भीतर होने वाली हलचलों और गतिविधियों से अपने आपको अद्यतन करतीं और एक-दूसरे का हौसला बढ़ातीं। इस मायने में देखा जाए तो महिलाओं की भूमिका इस किसान आंदोलन में बहुत अहम रही है।

किसानों की जीत और अहम उपलब्धियाँ

19 नवंबर 2021 को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने घोषणा की कि संसद के शीतकालीन सत्र में तीनों कृषि क़ानून वापस ले लिए जाएँगे। संयुक्त किसान मोर्चा ने प्रधानमन्त्री के नाम खुला पत्र लिखा कि वे अपना आंदोलन तभी वापस लेंगे जब उनकी तीनों क़ानून वापस लेने के साथ ही उनकी अन्य माँगें भी मानी जाएँ। अन्य माँगों में एक प्रमुख माँग थी सभी कृषि उत्पादों का लाभकारी न्यूनतम समर्थन मूल्य तय किया जाए और सभी किसानों को इसका क़ानूनी हक़ दिया जाए। किसानों ने उन किसानों के परिवारों को मुआवजा देने की भी माँग की जिन्होंने आंदोलन में भागीदारी के दौरान अपनी जान गँवा दी। आख़िरकार 11 दिसंबर 2021 को 380 दिन तक चला यह ऐतिहासिक आंदोलन समाप्त हुआ। जीत हासिल करने के बाद आंदोलकारी किसान और अन्य लोग उल्लास और आत्मविश्वास के साथ अपने-अपने घर-गाँव लौट गए।

वास्तव में, खेती के क्षेत्र में उत्पादन और विपणन की जगहों पर कॉर्पोरेट घुसपैठ को रोकने में किसान आंदोलन की कामयाबी खेती के तीन दशकों से गहराते जा रहे संकट का समाधान ढूँढ़ने की दिशा में एक बड़ी छलांग साबित होगी। एक वर्ष से अधिक चले इस आंदोलन में हज़ारों-हज़ार स्त्री-पुरुषों ने हिस्सेदारी की। वे एक समान उद्देश्य के लिए विचारधारात्मक स्पष्टता के साथ एकजुट रहे। इस आंदोलन ने किसानी से जुड़े तबक़े को तो राजनीतिक ऊर्जा से भरा ही लेकिन आमतौर पर सारे मेहनतकश तबक़े के राजनीतिक आधार को ऊर्जस्वित किया। यह राजनीतिक आधार व्यवस्थित रूप से एकजुट हुआ है और इसका केंद्रबिंदु भी

अधिक स्थिर हुआ है। इसके साथ ही इसके आयामों का विस्तार हुआ है। हालात देखकर लगता है कि आने वाले दिनों में मेहनतकश लोगों के संघर्ष और प्रतिरोध के आंदोलन और देखने को मिलेंगे। उनकी आर्थिक और राजनीतिक जगह में अगर कॉर्पोरेट या सरकार कोई दख़लअंदाज़ी करती है तो उसका ज़बर्दस्त और असरदार प्रतिरोध होगा। लेकिन साथ ही यह अपेक्षा भी है कि इस तरह जो राजनीतिक आधार बना है, वो अपने आंदोलनों में हाशिये पर पड़े किसानों और अन्य मेहनतकश लोगों की जगह को भी बढ़ाने के बारे में सोचेंगे। वास्तव में, हर किसान के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य पाने के क़ानूनी अधिकार की माँग भी वैसा ही एक कार्यक्रम है। अगर इसे व्यवहार में उतारना है तो राज्य को तो इसके लिए पूरा का पूरा ढाँचा खड़ा करना ही होगा, साथ ही आंदोलन को हर किसान को उसके इस हक़ की जानकारी देनी होगी और किसान को हक़ न मिलने की स्थिति में संघर्ष के लिए तैयार करना होगा।

ये कतई ज़रूरी नहीं है कि किसानों का जो तबक़ा 2020-21 के आंदोलन में प्रभावशाली था और जिसने संघर्ष का नेतृत्व किया था, आगे के संघर्षों का भी वही नेतृत्व करेगा। जैसे राजनीतिक आधार के आयामों का विस्तार होता है, यह उम्मीद की जानी चाहिए कि विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न प्रदेशों के खेती से जुड़े हुए अन्य तबक़े भी अपनी माँगों को उठाएँगे। हो सकता है कि किसान आंदोलन के अगले चरण में महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के आदिवासी किसान या बिहार के प्रवासी मज़दूर नेतृत्व दें। और जैसी समझदारी और एकजुटता अभी के आंदोलन में खेती से जुड़े हुए सभी तबकों ने दिखायी है, उससे उम्मीद है कि जब मज़दूरों की माँगें उठायी जाएँगी तो बड़े और मँझोले या छोटे किसान उनका भी वैसा ही साथ देंगे जैसा इस आंदोलन के दौरान मज़दूरों ने और छोटे किसानों ने उनका दिया था।

अंत में, गहरी जड़ें जमा चुके कृषि संकट के समाधान के लिए यह ज़रूरी होगा कि ज़मीन और उस पर मेहनत करके फ़सल उपजाने वाले लोगों के बीच संबंधों का आमूलचूल पुनर्गठन हो और यह मुद्दा केंद्रीय मुद्दा बने। और यह कैसे होगा, यह वही तय करेंगे जो किसान आंदोलन के भागीदार हैं। लेकिन यह जब भी होगा, महिलाएँ, जो किसान भी हैं और मज़दूर भी, जो पूरे खेती के दृश्य का और साथ ही खेती के समाज के भीतर बने राजनीतिक आधार का भी एक अहम हिस्सा हैं, उस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका में रहेंगी। ज़मीन और श्रम के संबंधों के आमूलचूल पुनर्गठन से हमारा क्या आशय है और उसमें महिलाओं की भूमिका की हमारी क्या अवधारणा है, इसे थोड़ा विस्तार से बताने के लिए हम देश के कृषि क्षेत्र का एक विहंगावलोकन करते हैं और फिर उसमें महिलाएँ कैसे जुड़ी हुई हैं, यह देखते हैं।

उदारीकरण की नीतियों का खेती पर असर

देशी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने खनन के उद्देश्य से, औद्योगिक इकाइयाँ डालने के लिए और रियल एस्टेट को विकसित करने के लिए किसानों से सीधे ही ज़मीनें छीनीं। शुरुआत में ज़मीन की इस कॉर्पोरेटी लूट-खसोट को सरकार ने सन 1894 में बने ब्रिटिश ज़माने के भूमि अधिग्रहण क़ानून का इस्तेमाल करके अपना प्रश्रय दिया। इसी क़ानून के तहत सरकार ने किसानों और आदिवासियों को उनकी ज़मीनों और उनकी आजीविका से खदेड़ने के लिए पुलिस बल का इस्तेमाल भी किया। इस तरह सरकारी मशीनरी और पुलिस बल का सीधे-सीधे ज़मीन क़ब्ज़ाने के लिए किए गए इस्तेमाल के ख़िलाफ़ पूरे देश में ज़बर्दस्त आंदोलन उठ खड़े हुए और अनेक जगह पर सरकार को और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने क़दम पीछे खींचने पड़े। जनांदोलनों का दबाव इतना बढ़ा कि सरकार को सन 1894 का भूमि अधिग्रहण क़ानून निरस्त करना पड़ा और उसकी जगह 2013 में नया क़ानून लाना पड़ा जिसे नाम दिया गया -

"दि राइट टु फेयर कंपनसेशन एंड ट्रांसपेरेंसी इन लैंड एक्विज़िशन, रिहैबिलिटेशन एंड रिसेटलमेंट एक्ट, 2013."

इस क़ानून ने कृषि ज़मीन के ग़ैर कृषि उपयोग के लिए भूमि स्वामी की स्वीकृति को अनिवार्य बनाया चाहे वो ज़मीन निजी स्तर पर ली जा रही हो या वह सार्वजनिक और निजी उपक्रम (पब्लिक-प्राइवेट वेंचर) के लिए हो। जब वर्ष 2014 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) की सरकार बनी जिसने आते ही अध्यादेशों के ज़रिये इस क़ानून को कॉर्पोरेट के पक्ष में कमज़ोर करने की कोशिश की ताकि ज़मीन का हस्तांतरण आसानी से हो सके। वर्ष 2015 में फिर से, राजग सरकार ने इस क़ानून को बेअसर करने के लिए राज्य सरकारों को यह निर्देश दे दिया कि वे अपने राज्य की परिस्थिति के मुताबिक़ इस क़ानून में फ़ेरबदल कर सकते हैं। इससे राज्य सरकारों को भूमि के हस्तांतरण के रास्ते में कोई बाधा न आये, इसका मौक़ा मिल गया।

उदारीकरण की नीतियों ने न केवल किसानों के हाथ से सीधे-सीधे ज़मीनें छीन लीं बल्कि पूरे खेती के क्षेत्र में आमदनी की गुंजाइशों को भी काफ़ी सिकोड़ दिया। कृषि उत्पादों के आयात-निर्यात पर जितने शुल्क प्रतिबन्ध थे, उन्हें हटा दिया गया। इससे भारतीय किसानों को सरकार ने सीधे-सीधे विशालकाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने निहत्था छोड़ दिया था। इसी तरह खेती में काम आने वाली सभी वस्तुओं जैसे बीज, खाद, पानी, बिजली, उर्वरक, कीटनाशक आदि के बाज़ार पर और कृषि उत्पादों के संग्रहण, भण्डारण, परिवहन और मंडियों आदि को भी तेज़ी से निजी कंपनियों के हाथों सौंपा जाने लगा है। इन हालात से, नयी तकनीकि और नये तरह के बाज़ार की संरचना से निपटने में ख़ासतौर पर छोटे और मँझोले किसानों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। वे क़र्ज़ में इस हद तक डूबते गए कि ज़रा-सी उथल-पुथल भी उनकी ज़िंदगी में बड़ा तूफ़ान ला देती थी। इन्हीं हालात का नतीजा है कि उदारीकरण की नीतियों वाले पिछले क़रीब तीन दशकों में लाखों किसानों ने ख़ुदकुशी कर ली।

जिन्होंने ख़ुदकुशी कर ली, उनके अलावा ऐसे छोटे और मँझोले किसानों की तादाद कई गुना है जिन्हें अपने पास मौजूद खेती की छोटी-मोटी ज़मीन बेचकर भूमिहीन मज़दूरों की जमात में शामिल होना पड़ा। मशीनों के उपयोग के बढ़ जाने से खेती में काम मिलने की गुंजाइश सिकुड़ गई है। इसलिए बड़ी तादाद में छोटे और सीमान्त किसानों ने अपनी ज़मीन बेचकर काम की तलाश में नज़दीकी शहरों से लेकर दूर-दराज़ के इलाक़ों तक पलायन किया है। ग्रामीण भारत में बढ़ती बेरोज़गारी से बढ़ते असंतोष और आंदोलनों को देखते हुए सरकार को मजबूर होकर महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) लेकर आना पड़ा। यह रोज़गार कार्यक्रम दुनिया का सबसे बड़ा राज्य प्रायोजित रोज़गार कार्यक्रम कहा जाता है। बेशक मनरेगा से स्थिति में थोड़ा बदलाव आया लेकिन रोज़गार की ज़रूरत को देखते हुए यह ऊँट के मुँह में जीरा ही था। मनरेगा के बावजूद ग्रामीण भारत में ग़रीबी लगातार बढ़ती जा रही है और सम्मानजनक रोज़गार की जगह लगातार घटती जा रही है। और इसकी वजह खेती के संसाधनों के असमान बँटवारे में निहित है।

खेती का व्यापक परिदृश्य

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गेनाईजेशन (एनएसएसओ) प्रत्येक दस वर्षों के अंतराल पर "हाउसहोल्ड लैंड एंड लाइवस्टॉक होल्डिंग" सर्वेक्षण करता है। वर्ष 2002-03 से एनएसएसओ ने "सिचुएशनल असेसमेंट सर्वे ऑफ़ फार्मर्स (खेती करने वाले परिवार)" सर्वेक्षण करना भी शुरू किया है। इसकी सबसे ताज़ा रिपोर्ट 2018-19 की है जो कि हाउसहोल्ड लैंड एंड लाइवस्टॉक सर्वेक्षण तथा सिचुएशनल असेसमेंट की साझा जानकारी देती है। ये रिपोर्ट्स बताती हैं कि पिछले 30 वर्षों में खेती के लिए कार्यशील जोतों (ऑपरेशनल होल्डिंग) की ज़मीन में काफ़ी तेज़ी से कमी आयी है। वर्ष 1991-92 में कार्यशील जोतों के अंतर्गत आने वाली कुल ज़मीन 12.51 करोड़ हेक्टेयर थी। उसी वर्ष में जोतों की संख्या 9.345 करोड़ थी और एक जोत का औसत आकार 1.34 हेक्टेयर था। वर्ष 2012-13 में कार्यशील जोतों के अंतर्गत आने वाली ज़मीन कम होकर 9.448 करोड़

हेक्टेयर रह गई और कार्यशील जोतों की संख्या बढ़कर 10.878 करोड़ हो गई। जोत का औसत आकार घटकर 0.87 हेक्टेयर रह गया। वर्ष 2018-2019 में हालात और ख़राब हुए और कार्यशील जोतों के अंतर्गत ज़मीन कम होकर 8.464 करोड़ हेक्टेयर रह गई और जोतों की संख्या भी कम होकर 10.198 करोड़ जा पहुँची। ज़मीन कम होने पर भी जोतों की संख्या में कमी आने का आशय यह है कि इस दौरान बहुत सारे परिवारों ने खेती करना ही पूरी तरह से छोड़ दिया है। अब जोत का औसत आकार घटकर 0.83 हेक्टेयर रह गया है। इसका मतलब यह है कि 1991-92 से 2018-2019 के क़रीब 27 वर्षों के दौरान हमने खेती की कार्यशील जोतों वाली ज़मीन में से 4.046 करोड़ हेक्टेयर ज़मीन गँवा दी है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि खेती में जितने लोग हैं, उस हिसाब से खेती की ज़मीन की उपलब्धता, जो पहले ही कम थी, और कम होती जा रही है। लेकिन इस सूरते-हाल को और भी विद्रूप बना देता है खेती की ज़मीन का बँटवारा। खेती की ज़मीन का हाल भी लगभग वैसा ही है जैसे देश में संपत्ति के वितरण का हाल है। वर्ष 2018-2019 का सिचुएशनल असेसमेंट सर्वेक्षण यह बताता है कि भारत में गाँवों में रहने वाले कुल परिवारों की संख्या 17.2443 करोड़ है। इनमें से 8.2 प्रतिशत परिवारों के पास तो किसी भी तरह की कोई ज़मीन नहीं है। यहाँ तक कि रहने के लिए घर की भी ज़मीन नहीं है। इसके बाद 32.1 प्रतिशत ग्रामीण परिवार ऐसे हैं जिनके पास सिर्फ़ रहने की ज़मीन है, खेती की कोई ज़मीन नहीं है। उसके बाद 30.8 प्रतिशत ऐसे ग्रामीण परिवार हैं जिनके पास घर के अलावा खेती की ज़मीन तो है लेकिन उसका आकार बहुत ही छोटा है। इस समूह में औसत जोत का आकार 0.2 हेक्टेयर यानि एक एकड़ से भी कम है। इसके बाद 13.6 प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जिनके पास औसत खेती की ज़मीन 0.7 हेक्टेयर है और 9.3 प्रतिशत परिवारों के पास औसत जोत 1.3 हेक्टेयर है। कुल ग्रामीण परिवारों में से सिर्फ़ छः प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जिनके पास दो हेक्टेयर से ज़्यादा की औसत ज़मीन है। लेकिन इन छः प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास खेती की कुल ज़मीन का 40.6 फ़ीसदी हिस्सा मौजूद है। जबकि बाक़ी 94 फ़ीसदी ग्रामीण परिवारों के पास कुल कृषि भूमि का 59.4 प्रतिशत हिस्सा है। इस असमानता को मिट्टी की गुणवत्ता, पानी की उपलब्धता और खेती में लगने वाले अन्य सामान और उपकरणों की उपलब्धता और भी बढ़ा देती है। मतलब यह कि जिसके पास ज़्यादा ज़मीन होगी, उसी की ज़मीन की मिट्टी अधिक उपजाऊ होगी, उसी के पास सिंचाई के साधन भी होंगे, उसे ही वक़्त पर अच्छी गुणवत्ता के खाद-बीज-कीटनाशक मिलेंगे और इस सबसे जो फ़सल पैदा होगी, उसके दाम भी उसे छोटे किसान से बेहतर मिलेंगे जिसके पास न ज़्यादा ज़मीन होती है और न बाक़ी संसाधन।

खेती की ज़मीन की उपलब्धता और वितरण के बारे में जो आंकड़े मौजूद हैं, वे स्वयं ही खेती के क्षेत्र में बहुत गहरे तक फैले हुए संकट को स्पष्ट कर देते हैं। क़रीब 40 फ़ीसदी ग्रामीण परिवारों के पास खेती के लिए कोई ज़मीन नहीं है और 44 फ़ीसदी के पास इतनी कम ज़मीन है कि वे सीमान्त किसानों की श्रेणी में आते हैं। सीमान्त किसान उन्हें कहा जाता है जिनके पास एक हेक्टेयर या ढाई एकड़ से कम ज़मीन हो। सीमान्त किसानों में भी उनकी तादाद बहुत कम है जिनके पास ढाई एकड़ या एक हेक्टेयर ज़मीन है। इस श्रेणी में ज़्यादा लोग वो हैं जिनके पास एक एकड़, आधा एकड़ जैसी छोटी जोतें हैं। यह ज़मीन इतनी कम होती है कि उस पर खेती का काम करने से परिवार में उपलब्ध श्रम का भी पूरे साल तो दूर, कुछ महीने भी इस्तेमाल नहीं हो सकता। और न ही इतनी छोटी ज़मीन पर खेती से इतनी आमदनी हासिल होती है कि परिवार की खाने-कपड़े की बुनियादी ज़रूरतें ही पूरी हो सकें। भूमिहीन और सीमान्त किसान परिवारों के सदस्य या तो गाँव में ही दूसरे के खेतों में या फिर कोई और रोज़गार ढूँढ़ते हैं या फिर काम की तलाश में बाहर चले जाते हैं। बाहर भी कम मज़दूरी मिलती है और इतना काम भी नहीं मिलता कि ज़रूरत पूरी हो सके। रोज़मर्रा का जीवन जीने के लिए भी वो छोटे-मोटे क़र्ज़ लेते हैं और वो भी ऊँचे ब्याज पर। ऐसे में कोई वक़्त मुसीबत आ जाए तो उस ज़रूरत का इंतज़ाम उन्हें ज़मीन गिरवी रखकर या बेचकर ही करना होता है।

भूमि और श्रम के संबंधों के पुनर्गठन की तथा खेती में मौजूद मेहनतकश लोगों के लिए रोज़गार की जगह बढ़ाने की ज़रूरत

एनएसएसओ प्रत्येक 5 वर्षों में रोज़गार-बेरोज़गारी की स्थिति का भी सर्वेक्षण करता है। वर्ष 2017-18 से यह लगातार प्रतिवर्ष पीरियाडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे भी करता आ रहा है। वर्ष 2018-19 के सर्वेक्षण के अनुसार देश में कुल श्रमशक्ति 46.74 करोड़ है (लेबर फ़ोर्स एंड एम्प्लॉयमेंट ग्रोथ इन इंडिया, बालकृष्ण पाढ़ी एंड वेंकटनरयाणा मोटकुरी, ईपीडब्ल्यू, 20 नवंबर 2021)। इसमें से खेती में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या 19.117 करोड़ है जो कुल श्रम शक्ति का 40.9 प्रतिशत होता है। इसका आशय यह है कि 19.117 करोड़ महिलाएँ और पुरुष अपनी आजीविका के लिए खेती और खेती से जुड़े हुए अन्य कार्यों पर निर्भर रहते हैं। इनमें से भी 14.26 करोड़ लोग स्वरोज़गार में हैं। मतलब उनका ख़ुद का खेत हैं और वे उसमें ही खेती करते हैं। इसके बाद 4.63 करोड़ लोग अनियमित श्रमिक हैं जो दूसरे के खेतों में या अन्य जगहों पर आजीविका कमाते हैं। नियमित तनख़्वाह वेतन-भत्ते पाने वाले श्रमिक कुल 23 लाख ही हैं।

भूमि की उपलब्धता के आंकड़े देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग खेती पर निर्भर रहते हुए स्वरोज़गार में लगे हैं यानि अपनी ज़मीन पर खेती कर रहे हैं, न तो उनके पास इतनी ज़मीन है कि उससे अच्छी-ख़ासी

आमदनी हो सके, और जो लोग अनियमित मज़दूरी करते हुए खेती के क्षेत्र में मौजूद हैं, उनके लिए खेती में इतना काम या रोज़गार ही नहीं है कि उनकी रोज़मर्रा की ज़रूरतें पूरी हो सकें। यदि खेती के क्षेत्र में रोज़गार की जगह को बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जाएगा और ज़मीन तथा मज़दूर के संबंध को पुनर्गठित नहीं किया जाएगा तो खेती का संकट लगातार गहरा और विकराल होता जाएगा। वैसी स्थिति में तबाही के वैसे काण्ड और दोहराये जाएँगे जो कोविड-19 के दौरान प्रवासी मज़दूरों की लम्बी यात्राओं के दौरान घटित हुए थे।

दूसरी तरफ़, जो व्यापक एकता और राजनीतिक जनाधार हाल के किसान आंदोलन में देखने को मिला, उससे ये उम्मीद तो बँधती है कि सीमान्त किसानों और भूमिहीन खेत मज़दूरों की एकता संभव है और वे मिलकर इस मक़सद के लिए अपने लिए रोज़गार के अवसर तथा आजीविका के साधन बढ़ाने के ठोस संघर्ष में इकट्ठे शामिल होंगे। इस सन्दर्भ में हम उनके विचारार्थ यहाँ एक संक्षिप्त कार्यक्रम प्रस्तावित कर रहे हैं जो किसान आंदोलनों में और उनके संघर्षों में शामिल हैं:

- सबसे पहले क़दम के तौर पर तो खेती की ज़मीनों के ग़ैर कृषि उपयोग पर पूरी तरह रोक लगा देना चाहिए ताकि मुनाफ़े के लिए जो कंपनियाँ और निजी व्यवसायी ज़मीनें ख़रीदने और बेचने के व्यवसाय में लगे हुए हैं, उन पर नियंत्रण किया जा सके। दीर्घकालीन दौर में एक जनहितैषी और भूमि उपयोग की वैज्ञानिक नीति बनानी चाहिए। उस नीति को पर्यावरण की पक्षधर बनाना चाहिए और उसे बाज़ार के नफ़े-नुकसान के गणित से सुरक्षित रखना चाहिए। देश में व्यापक पैमाने पर खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए यह बेहद ज़रूरी है।

- अगला क़दम भूमि सुधार कार्यक्रम की माँग को फिर से जीवित करने की होनी चाहिए। अभी भी ऐसे अनेक पहले के बचे-खुचे ज़मींदार और बड़े किसान हैं जिनके पास राज्य के सीलिंग क़ानून के मुताबिक़ जितनी ज़मीन होनी चाहिए, उससे कहीं ज़्यादा है। धार्मिक संस्थानों, संस्थाओं और बाग़ान कंपनियों को सीलिंग क़ानून से छूट हासिल है और इसलिए उनके क़ब्ज़े में भी बहुत बड़ी-बड़ी ज़मीनें हैं जिनकी उन्हें कोई ज़रूरत भी नहीं है। इस सारी अतिशेष ज़मीन की पहचान कर उसे राज्य के अधिकार में ले लेना चाहिए और उस ज़मीन को पुनर्वितरित करना चाहिए।

- खेती के संकट को हल करने के लिए ज़मीन का पुनर्वितरण एक ज़रूरी क़दम है लेकिन सिर्फ़ यही पर्याप्त नहीं है। चूँकि खेती के लिए जो ज़मीन उपलब्ध है, वो इतनी कम है कि अगर बहुत दक्षता और ईमानदारी से भी ज़मीन का बँटवारा किया जाए तो भी हर भूमिहीन परिवार को ज़मीन मिल पाना मुश्किल है। मिल भी जाए तो वो एक परिवार लायक़ फ़सल देने के लिए नाकाफ़ी होगी। और फिर छोटी-छोटी जोतों का अगली पीढ़ियों में और बँटवारा होगा तो इतनी कम ज़मीन पर जीविकोपार्जन मुमकिन ही नहीं होगा। पहले ही ऐसी छोटी जोतें देश में करोड़ों की तादाद में हैं। मशीन से खेती की जा सके, ठीक से पानी का नियोजन हो सके और अनुकूल फसलों को उगाया जा सके, इसके लिए खेत का एक न्यूनतम आकार होना चाहिए। इसके लिए छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर एक करना होगा ताकि एक ठीक-ठाक आकार का कोऑपरेटिव (साझा) खेत बन सके। तो अगला क़दम होगा सीमान्त और छोटे किसानों को इस बात के लिए राजी करना कि वे अपने-अपने खेतों को मिलाकर साझा खेती के लिए तैयार हों। इसमें अपनी खेती की ज़मीन ही नहीं, बल्कि अपनी मेहनत भी इस योजनाबद्ध तरह से साझा करनी होगी कि सबको उनकी क्षमता अनुसार बराबर काम मिले। इस तरह के साझा खेती के प्रयास को खाद, बीज, दवाओं के साथ

रियायती बैंक क़र्ज़ और फ़सल बीमा आदि के समर्थन के साथ ही सुरक्षा और कृषि उत्पाद की सही दरों पर सुनिश्चित ख़रीदी का समर्थन भी सरकार की ओर से देना होगा। छोटे-छोटे किसानों में ज़्यादातर जातीय संरचना में भी निम्न जाति के समझे जाने वाले लोग होंगे। उनके साझा खेती करने से जब वे बड़े किसानों के यहाँ मज़दूरी करने के बजाय अपने साझा खेत पर समय लगाएँगे तो बड़े किसान हरगिज़ नहीं चाहेंगे कि इन छोटे किसानों का यह साझा उपक्रम कामयाब हो। वे ताक़त के ज़ोर पर भी उन्हें नाकाम करने की कोशिश करेंगे और बाज़ार से उन्हें सही वक़्त पर अच्छी गुणवत्ता वाला बीज-खाद, पानी-बिजली आदि खेती के लिए ज़रूरी चीज़ें न मिल सकें, इसकी भी भरपूर कोशिश करेंगे। इसलिए साझा खेती के प्रयोग को टिकाऊ बनाने के लिए ज़रूरी है कि उन्हें शासकीय संरक्षण भी मिले और उनके उत्पादों को भी समर्थन मिले। और यह संरक्षण पूँजीपतियों का संरक्षण करने वाली सरकार केवल तब ही देगी जब ये सीमान्त किसान और छोटे किसान संगठित होकर अपनी इस ज़रूरत को पूरा करने के लिए सरकार को आंदोलन के ज़रिये विवश कर दें।

- जब ऐसे अनेकानेक कोऑपरेटिव बन जाएँगे तो उन्हें गाँव के स्तर से लेकर जिला, राज्य और देश के स्तर तक फेडरेशन के ज़रिये जोड़ना होगा। हक़ीक़तन बात यह है कि इस योजना को यथार्थ में कामयाब करने के लिए सीमान्त और छोटे किसानों का देशव्यापी आंदोलन खड़ा करना होगा। इससे ज़मीन के स्वामित्व का जो संस्थागत ढाँचा है, वो निजी स्वामित्व से बदलकर सामूहिक स्वामित्व का हो जाएगा। ये सुनने, बोलने और लिखने में जितना आसान है, करने में यह उतना ही मुश्किल, चुनौतीपूर्ण और जटिल है। लेकिन अगर एक बार यह हो गया तो देश की कृषि अर्थव्यवस्था में हैरतअंगेज़ बदलाव ले आएगा। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि देश में कुल कृषि भूमि का 59.4 फ़ीसदी हिस्सा सीमान्त किसानों और छोटे किसानों के पास है। अगर भूमि सुधार और भूमि का पुनर्वितरण हुआ तो यह हिस्सेदारी और बढ़ेगी ही। अगर सीमान्त किसानों और छोटे किसानों को एकजुट किया जा सके और ऐसे फैसले लिए जा सकें जो मुनाफ़े पर नहीं बल्कि पूरे समाज की भलाई और टिकाऊ समाधान पाने के लिए हों तो बाज़ार बदल जाएँगे, तकनीक बदल जाएगी और फ़सलों का चयन भी बदल जाएगा। तब हमारे पास कृषि का एक वैकल्पिक ढाँचा होगा जिसमें छोटे और सीमान्त किसानों के कोऑपरेटिव उस फ़सल को उपजाएँगे जो लोगों के जीवन के लिए ज़रूरी होगी, न कि वो जो बाज़ार से ज़्यादा मुनाफ़ा दिलवाएगी। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अगर छोटे और सीमान्त किसान कोऑपरेटिव ढाँचे के साथ जुड़ गए तो उनकी ज़मीनों को छीनना और ग़ैर कृषि उपयोग में लेना भी आसान नहीं होगा - न राज्य के लिए और न ही कॉर्पोरेट के लिए।

- भूमि पुनर्वितरण और कोऑपरेटिव खेती के कार्यक्रम से बेशक कृषि के हालात बहुत तेज़ी से बदलेंगे लेकिन फिर, यह भी सच है कि ग्रामीण भारत की सारी ग़रीब आबादी को साझा खेती के दायरे में लाना और उनके लिए सम्मानजनक और टिकाऊ व सुरक्षित आजीविका देना मुमकिन नहीं होगा। कृषि में कुल 19.12 करोड़ स्त्री और पुरुष शामिल हैं। जो भूमिहीन खेत मज़दूर हैं, उन्हें साझा खेती में शामिल कैसे किया जा सकेगा? ऐसे ही और भी महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। मसलन जो परिवार साझा खेती के कार्यक्रम में शामिल होंगे भी, उनमें से भी काम करने योग्य हर व्यक्ति को तो खेती में रोज़गार दिया नहीं जा सकेगा। तो जो लोग साझा खेती के या कोऑपरेटिव के ढाँचे के

बाहर छूट जाएँगे, उन्हें इस साझा खेती के ढाँचे में शामिल करने के लिए श्रमिकों के कोऑपरेटिव या साझा श्रमिक समूह बनाने होंगे जो साझा खेती के समूहों की तरह ही एक बड़े संघीय ढाँचे से जुड़े रहें। ये साझा श्रमिक समूह साझा खेती के समूहों में ज़रूरत पड़ने पर श्रम की आपूर्ति कर सकते हैं, खेती के उत्पादों के प्रसंस्करण, परिवहन और मार्केटिंग के कार्यों की ज़िम्मेदारी ले सकते हैं। अभी ये सारे काम या तो बड़े किसान करते हैं जिनके पास ट्रेक्टर, ट्रक आदि हैं और जिनके पास कृषि उत्पादों के प्रसंस्करण की छोटी-बड़ी इकाइयाँ लगाने की पूँजी मौजूद है, या फिर ये सभी काम घरेलू या बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपने क़ब्ज़े में ले रखे हैं। हम जिस साझा खेती की वैकल्पिक अर्थव्यवस्था की बात कर रहे हैं, उसमें ये जगह खेती के क्षेत्र में मौजूद श्रमिकों के लिए सुरक्षित और आरक्षित रखी जाएगी। इस तरह खेती के क्षेत्र के भीतर मौजूद श्रम बल को खेत के दायरे के बाहर लेकिन खेती से जुड़े क्षेत्रों में काम करने की, रोज़गार की जगह बढ़ायी जा सकेगी। एक बार अगर खेत मज़दूरों के साझा समूह बन गए और उन्हें खेत के दायरे के बाहर नये इलाक़ों में रोज़गार की जगह मिल गई तो वह स्थिति सिर्फ़ कृषि की ही नहीं बल्कि पूरी अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन की शुरुआत होगी।

साझा खेती के लिए छोटे और सीमान्त किसानों के कोऑपरेटिव बनाना और श्रमिकों के साझा समूहों को एक व्यापक कोऑपरेटिव ढाँचे में जोड़ना बेशक एक क्रान्तिकारी परियोजना है। इस रास्ते में बड़ी-बड़ी बाधाएँ और मुश्किलें आएँगी। ग़रीब लोगों की ऐसी साझा कोशिशों को नाकाम करने के लिए ताक़त का सहारा लिया जाएगा, हिंसक दमन भी होगा। दमन का सामना करने के लिए एक मज़बूत राजनीतिक आधार की ज़रूरत होगी। इस तरह बनने वाले साझा समूहों में तोड़फोड़ और घुसपैठ की बहुत कोशिशें होंगी और उन्हें क़ब्ज़ाने की भी कोशिशें की जाएँगी। छोटे और सीमान्त किसानों तथा खेतिहर मज़दूरों के इन साझा प्रयासों को ऐसे हमलों से बचाना और अभेद्य बनाना बहुत ज़रूरी है। ठीक-ठीक क्या और कैसे होगा, ये तो वो तय करेंगे जो इस परियोजना के मुख्य किरदार होंगे लेकिन इतना तय है कि खेती के अंदर और समूची अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में जो संकट मौजूद है, और लगातार बढ़ता जा रहा है, उसका स्थायी और टिकाऊ समाधान इस क्रांतिकारी कार्यक्रम से कम में किसी भी हाल में नहीं निकल सकता।

अब हम आगे इस बारे में बात करेंगे कि इस कृषि अर्थव्यवस्था में किसान और खेत मज़दूर औरतें किस तरह से शामिल हैं और कैसे वो अपनी और अर्थव्यवस्था की हालत को सुधारने की इस क्रान्तिकारी मुहिम में वो अग्रणी भूमिका निभा सकती हैं।

कृषि में महिलाएँ

हमने पहले भी बताया था कि एनएसएसओ के 2018-19 के पीरिऑडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे के मुताबिक़ खेती के क्षेत्र में 19.12 करोड़ श्रमिक शामिल हैं। इनमें से 31.38 प्रतिशत महिलाएँ हैं। मतलब यह हुआ कि क़रीब छः करोड़ महिलाएँ खेती और खेती से जुड़ी हुई गतिविधियों में शामिल हैं। ये महिलाएँ खेती के किस काम में शामिल हैं, ये इससे तय होता है कि उनके परिवारों की स्थिति क्या है। इसके साथ ही, समाज की ही तरह खेती में भी श्रम का विभाजन लैंगिक आधार पर भी होता है। इन छः करोड़ महिलाओं में से 4.08 करोड़ महिलाएँ खेती में स्वरोज़गार के तौर पर जुड़ी हैं। अनियमित मज़दूरी में 1.85 करोड़ महिलाएँ शामिल हैं और सात लाख महिलाएँ या तो तनख़्वाहशुदा हैं या उन्हें वेतन मिलता है।

अनियमित मज़दूरी में महिलाएँ

ये 1.85 करोड़ महिलाएँ जो मज़दूरी का काम करती हैं, अधिकांशतः भूमिहीन परिवारों से आती हैं या फिर ऐसे परिवारों से जिनके पास ज़मीन का बहुत छोटा-सा टुकड़ा है। ये अधिकतर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों से आती हैं। खेत मज़दूरों के समुदाय में भी महिला मज़दूर और भी ज़्यादा नुकसान में रहती हैं। खेत मज़दूरों को भी जो काम दिए जाते हैं, उनमें भी और उन कामों के बदले दी जाने वाली मज़दूरी में भी लैंगिक आधार पर भेदभावपूर्ण बर्ताव किया जाता है। कुछ काम ऐसे रहते हैं जो सिर्फ़ मर्दों को ही दिए जाते हैं। उनमें हल चलाना, जुताई करना, कुआँ खोदना, गन्ने की फ़सल काटना आदि शामिल हैं। इन कामों के एवज़ में दी जाने वाली मज़दूरी की दर भी ज़्यादा होती है। रोपाई, खरपतवार निकलना और फ़सल कटाई आदि काम मर्द और औरतें, दोनों ही करते हैं। इन कामों की मज़दूरी की दर कम होती है। और हर वो काम जिसे मर्द और औरत, दोनों करते हैं या कर सकते हैं, उसमें भी महिला मज़दूर की मज़दूरी की दर पुरुष को मिलने वाली मज़दूरी से कम होती है। ये भारत के लगभग हर राज्य की सच्चाई है। वर्ष 2018-19 में खेत मज़दूरी की देश की सालाना औसत दर पुरुष मज़दूर के लिए रुपये 330 थी और महिला मज़दूर के लिए रुपये 262 मात्र। छत्तीसगढ़ में मज़दूरी सबसे कम थी। यह पुरुष मज़दूर के लिए रुपये 214 थी और महिला मज़दूर के लिए मात्र रुपये 156 थी। महिला मज़दूरों के साथ सबसे ज़्यादा भेदभाव तमिलनाडु में देखा गया। वहाँ पुरुष मज़दूर के लिए मज़दूरी रुपये 372 थी और महिला मज़दूर के लिए मात्र रूपये 180 थी। केरल में महिला और पुरुष, दोनों ही मज़दूरों के लिए मज़दूरी की दर अन्य राज्यों से ज़्यादा थी लेकिन लैंगिक असमानता वहाँ भी थी - पुरुष मज़दूर की मज़दूरी थी रुपये 673 जबकि महिला मज़दूर को मात्र रुपये 506 ही मिलते थ।

(*एग्रीकल्चरल वेजेस इन इंडिया, 2018-19, भारत सरकार, 2020*)

कम मज़दूरी के अलावा और भी समस्याएँ हैं। वर्ष भर में खेती के भीतर काम करने की अवधि ही सीमित है। सिर्फ़ बुवाई और कटाई के वक़्त ही एक साथ अधिक मज़दूरों की ज़रूरत पड़ती है। हालाँकि तेज़ी से बढ़ रहे मशीनीकरण ने अब इन प्रक्रियाओं में भी मज़दूरों की ज़रूरत को सीमित कर दिया है। वर्ष 2011-12 के एनएसएसओ के आँकड़ों के मुताबिक़ देश में कृषि क्षेत्र में 7.52 करोड़ लोग अनियमित या छुट्टा मज़दूरी में लगे हुए थे। इनमें 4.77 करोड़ पुरुष थे और 2.75 करोड़ महिलाएँ। वर्ष 2018-19 में कृषि में अनियमित या छुट्टा मज़दूरी में लगे लोगों की संख्या 4.63 करोड़ रह गई थी। इनमें 2.78 करोड़ पुरुष और 1.85 करोड़ महिला मज़दूर शामिल थे। हालाँकि पुरुष मज़दूर तो दूसरे क्षेत्रों में रोज़गार ढूँढ़ने चले गए और खेती के क्षेत्र से हट गए लेकिन महिला मज़दूरों को ये आज़ादी भी नहीं होती। उन पर अनेक प्रतिबंध होते हैं - रोज़गार के क्षेत्र के हिसाब से भी और भौगोलिक इलाक़े के हिसाब से भी। एक विकल्प जो उनके पास बचा, वो था मनरेगा का।

वर्ष 2019-20 में मनरेगा के कार्यों के लिए रुपये 210 प्रति दिन अधिकृत रूप से स्वीकृत थे। पुरुष मज़दूर जो रोज़गार के अन्य क्षेत्रों या अन्य इलाक़ों में काम करने जा सकते हैं, उन्हें मनरेगा के कामों के एवज़ में मिलने वाली मज़दूरी क़तई आकर्षक नहीं लगती। ऐसे में महिलाओं ने बड़े पैमाने पर मनरेगा के कामों में हिस्सेदारी की है। अधिकतर राज्यों में मनरेगा के भीतर 50 फ़ीसदी से ज़्यादा महिलाएँ काम कर रही हैं। केरल और तमिलनाडु में तो वे 80 फ़ीसदी तक हैं। ऐसा इसलिए नहीं है कि महिलाओं के लिए मनरेगा के काम ज़्यादा आकर्षक हैं बल्कि इसकी वजह यह है कि मनरेगा में दी जाने वाली मज़दूरी की दर इतनी कम है कि पुरुष मज़दूर उसमें काम करने के बजाय खुले बाज़ार में अपनी मेहनत बेचना ज़्यादा मुफ़ीद समझते हैं जहाँ मनरेगा से ज़्यादा मज़दूरी मिल जाती है। दूसरी वजह यह है कि 100 दिन गारंटी होने की बात कागज़ पर ही है। वर्ष 2018 में मनरेगा के अंतर्गत प्रति परिवार पूरे साल में औसतन 45 दिन का ही काम मिला था। सीधी सी बात है कि मनरेगा में महिलाओं की उपस्थिति रिज़र्व श्रम के इस्तेमाल की तरह है।

मज़दूरी का भुगतान बैंक खाते में करने की वजह से भी दूर-दराज़ गाँवों में रहने वाली महिलाओं के लिए काफी समस्या बढ़ जाती है। ऐसी अनेक शिकायतें सामान्य तौर पर सुनने-पढ़ने को मिलती हैं जहाँ महिलाओं या पुरुषों को लम्बे समय तक अपनी मज़दूरी का भुगतान नहीं मिल पाया।

खेती के क्षेत्र में अनियमित मज़दूरी की गुंजाइशें सिकुड़ती जाने के कारण महिलाएँ श्रम बल से पूरी तरह बाहर ही होती जाए रही हैं।

खेती में स्वरोज़गार करने वाली महिलाएँ

खेती में स्वरोज़गार की श्रेणी में 4.08 करोड़ महिलाएँ बतायी जाती हैं। ये वे महिलाएँ हैं जो उन परिवारों से आती हैं जिनके पास अपनी खेती की ज़मीन है। इनमें वे परिवार और ज़मीनें भी शामिल हैं जो दूसरों से ज़मीन बँटाई पर लेकर खेती करते हैं। अपने ख़ुद के खेतों में या बँटाई पर ली हुई खेती की ज़मीन पर काम करने के कारण इन महिलाओं को स्वरोज़गार की श्रेणी में रखा जाता है न कि खेत मज़दूर की। पारम्परिक रूप से महिलाओं को खेती में बीजों, मवेशियों, मुर्गियों, बकरियों की देखभाल की ज़िम्मेदारी थी। इसके साथ ही वे फ़सल आने के बाद उसकी साफ़-सफ़ाई, रख-रखाव और उसके प्रसंस्करण का काम भी करती थीं। लेकिन छोटे और सीमान्त किसान परिवारों की महिलाएँ खेतों में जाकर बुवाई, रोपाई, खरपतवार निकालने और

फ़सल काटने आदि के काम भी करती हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में उनका काम इलाक़ों की रवायतों, खेती के क्षेत्रफल, फ़सलों की क़िस्मोंऔर क्षेत्र विशेष की जाति, वर्ग, धर्म आधारित सांस्कृतिक मान्यताओं के हिसाब से बदलता रहता है।

लेकिन जो चीज़ सब जगह लगभग एक जैसी रहती है, वो यह कि ज़मीन का स्वामित्व परिवार के किसी न किसी पुरुष के पास रहता है। महिलाएँ परिवार के जिस खेत पर काम करती रहती हैं, वो अपवादस्वरूप ही कभी उनके नाम पर होता है। इस बारे में क़ानून भी हैं कि खेती की ज़मीन में महिलाओं और पुरुषों को साझा मिल्कियत दी जाए लेकिन उनका अमल भूले-भटके ही होता है। ऑक्सफैम के एक अध्ययन के मुताबिक़ देश में महिलाओं के नाम पर कुल 12.8 प्रतिशत ज़मीन ही है। ("बंसरी कामदार और श्रेयसी दास का दि प्रिंट में 13 मार्च 2021 को प्रकाशित लेख, शीर्षक- नो टाइटल, नो लैंड: वीमेन ग्रो 80 परसेंट ऑफ़ इंडिया'ज़ फ़ूड बट न्यू फार्म लॉज़ अनलाइकली टु हेल्प देम।")

अगर क़ानूनी तौर पर ज़मीन महिला के नाम पर हो भी, तो भी समाज का पितृसत्तात्मक ढाँचा वास्तविकता में ज़मीन पर और खेती की उपज पर नियंत्रण पुरुष का ही बना रहता है। कहाँ से क़र्ज़ लिया जाए, कौन सी फ़सल बोयी जाए, किस दाम पर बेची जाए, और इस्तेमाल कैसे हो, इस सब में महिलाओं से मशविरा नहीं के बराबर किया जाता है, उनके फ़ैसले को मानने की बात तो दूर की बात है। अधिकतर मामलों में तो महिलाओं को यह पता भी नहीं होता कि खेती में कुल आमदनी कितनी हुई है और कितनी देनदारियाँ हैं। परिवार की खेती के काम में भी महिलाओं की भूमिका मुख्य श्रमिक की नहीं होकर सहायक श्रमिक की होती है। उनके काम का कोई हिसाब-किताब नहीं रखा जाता और न ही उन्हें अपने काम के एवज़ में अलग से कोई मेहनताना हासिल होता है। अपने परिवार के खेत में उनके काम की हिस्सेदारी पूरी तरह ज़रूरत पर निर्भर करती है। जब परिवार को ज़रूरत हो तब उन्हें अपने हिस्से का श्रम देना है और जब ज़रूरत नहीं हो, तो उन्हें चुपचाप खेत के काम से हट जाना है। जब परिवार के पुरुष बेहतर आमदनी और रोज़गार की तलाश में खेती छोड़कर बाहर चले जाते हैं तो परिवार की खेती के काम की ज़िम्मेदारी महिलाएँ उठा लेती हैं। अगर बाहर काम नहीं मिला और उन्हें वापस गाँव लौटना पड़ा तो वे चुपचाप पुरुषों के लिए जगह खाली करके वापस अपने घर-चौके में लौट जाती हैं। एक और भी संभावना होती है। कुछ मामलों में ऐसा भी होता है कि परिवार के पुरुष सदा के लिए ही खेती छोड़कर किसी अन्य काम में, रोज़गार में दाख़िल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में या तो वे खेती की ज़मीन बेच देते हैं या किसी और को बँटाई पर खेती करने लिए ज़मीन दे जाते हैं। ऐसी स्थिति में भी, उनमें से कुछ महिलाएँ ज़रूरत के मुताबिक़ छुट्टा मज़दूरी या किसी और काम में लग जाती हैं और बाक़ी बेकार हो जाती हैं या कहिए कि वापस केवल घरेलू काम में लग जाती हैं और श्रमिकों की तादाद में से कम हो जाती हैं। देखा जाए तो व्यवहार में वे ऐसी पारिवारिक श्रमिक होती हैं जिन्हें बिना कुछ वेतन दिये रखा जाता है और जब ज़रूरत होती है, उनसे काम ले लिया जाता है। इस तरह वे श्रमिकों की रिज़र्व फ़ौज का हिस्सा बनी रहती हैं।

जैसा अनियमित वेतन मज़दूरों के मामले में भी हमने देखा, वैसे ही कृषि में स्वरोज़गार की श्रेणी वाली महिलाओं की संख्या में भी 2011-12 से काफ़ी कमी आयी है। वर्ष 2011-12 में इस श्रेणी में खेती में 5.13 करोड़ महिलाएँ थीं जो 2018-19 में घटकर 4.08 करोड़ रह गईं। जबकि ऐसी स्थिति खेती में स्वरोज़गार में लगे पुरुषों के साथ नहीं हुई। वे वर्ष 2011-12 में 9.63 करोड़ थे जो 2018-19 में बढ़कर 10.18 करोड़ हो गए। (1) फ्रॉम जॉबलेस टु जॉबलॉस ग्रोथ, के. पी. कण्णन, जी. रवींद्रन, इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 9 नवंबर 2019, 2) जेंडर डाइमेंशन्स: एम्प्लॉयमेंट ट्रेंड्स इन इंडिया, 1993-94 टु 2009-2010, इंद्राणी मज़ुमदार, नीता एन. इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकली वीकली, 22 अक्टूबर 2011. 3) लेबर फ़ोर्स एंड एम्प्लॉयमेंट ग्रोथ इन इंडिया, बालकृष्णा पाढ़ी, वेंकटनारायणा मोटकुरी, इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकली वीकली, 20 नवंबर 2021.)

मुख्य श्रमिक के रूप में महिला किसान

ऐसी महिलाएँ जिन्हें खेती की ज़मीन पर और खेती के सभी कामकाज पर नियंत्रण हासिल हो गया, उनमें कुछ तो वो होती हैं जिनके पति का देहांत हो गया हो और बच्चे भी छोटे हों। नव उदारीकरण की नीतियों के कारण किसानों की आत्महत्याओं की तादाद में काफ़ी वृद्धि हुई है। जहाँ एक ओर इससे परिवार उजड़े हैं वहीं इस मुसीबत से हिम्मत से निपटने के कारण खेती के दृश्य पर कुछ नये महिला क़िरदार भी उभरे हैं। वैसे महिला परिवार की खेती में अवैतनिक मज़दूर होती थी और उस पर भी वो अक्सर अदृश्य ही रहती थी। खेती का चेहरा पुरुष का ही चेहरा रहा करता है लेकिन अकस्मात टूटे दुःख के पहाड़ों को धकेलने को कोशिश में अनेक महिलाएँ भी खेती की मुख्य श्रमिक बन गईं।

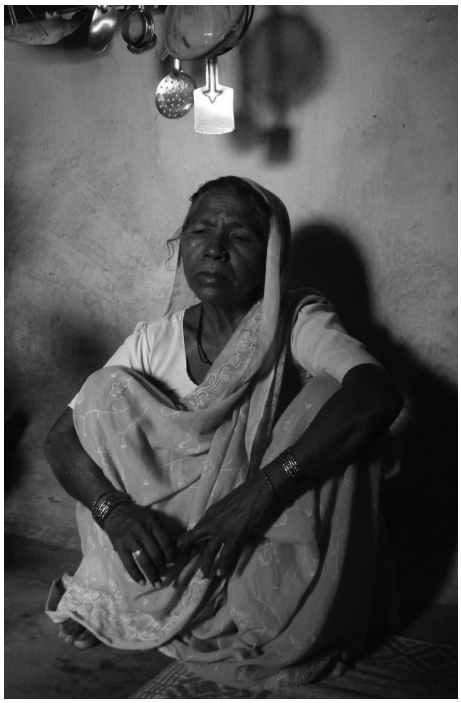

किसान विधवाएँ

सहदेव मोरे की पत्नी विद्या मोरे अपने पति और दो बच्चों के साथ महाराष्ट्र के उस्मानाबाद ज़िले के कळंब तालुक में रहा करती थी। सहदेव मोरे के पास दो एकड़ ज़मीन थी। बार-बार फ़सल बर्बाद हो जाने के कारण उसने 30 हज़ार रुपये में अपनी ज़मीन गिरवी रख दी। उधार चुकाकर अपनी ज़मीन छुड़वाने में नाकाम रहने से सहदेव टूट गया। हताशा में उसने अपनी छोटी-सी झोपड़ी पर केरोसिन छिड़ककर आग लगा दी। उसका इरादा परिवार सहित ख़ुदकुशी का था। लेकिन विद्या ने इस तरह अपनी और अपने बच्चों की ज़िंदगी ख़त्म करने से इंकार कर दिया। झोपड़ी जलती देख उसने अपने बच्चों को खिड़की से बाहर फेंका और ख़ुद भी कूद गई। सहदेव नहीं रहा। विद्या को भी थोड़ी चोटें आईं। उसने जल्द ही ठीक होकर अपनी राख हो चुकी ज़िंदगी को अपने बच्चों की ख़ातिर फिर से सँवारने का फैसला किया।

यह आसान नहीं था। उसे परिवार में किसी का सहारा हासिल नहीं था। विद्या दूसरों के खेतों में मज़दूरी का काम किया करती थी। उतनी आमदनी से गुज़ारा नहीं होता था इसलिए रातों को जागकर कपड़े सिया करती थी। बरसों की कड़ी मेहनत के बाद वो अपने पति का लिया उधार चुका पायी और बच्चों की पढ़ाई जारी रख पायी। विद्या को गिरवी रखी ज़मीन वापस हासिल हो गई और वो खेत मज़दूर से किसान की श्रेणी में आ गई। किसान समुदाय का हिस्सा बन जाने पर उसे जितनी ख़ुशी हुई थी, उससे ज़्यादा ऐसी तकलीफ़ों से उसका सामना हुआ जिनकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। लोग इसी बात पर उससे चिढ़ते और नाराज़ रहते थे कि वो 'मर्दों' की तरह खेती के काम क्यों कर रही है। उन्होंने उसके खेत तक जाने वाले पानी की आपूर्ति बंद कर दी। वो अनुनय करती रही कि वो तो बस एक ज़िम्मेदार माँ की तरह बर्ताव कर रही है लेकिन लोग तरह-तरह की परेशानियाँ खड़े करते रहे। उसका लड़का 11 वीं में था और लड़की नौवीं में।

(*हाउ मराठवाड़ा फार्म विडोज़ आर टर्निंग देयर लाइव्स अराउंड, राधेश्याम जाधव, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 29 अक्टूबर 2017*)

महाराष्ट्र के ही वर्धा ज़िले के लोनसावला गाँव में एक दलित महिला किसान है - कमला बाई गुढ़े। अब उनकी उम्र क़रीब 65-70 के बीच होगी। अपनी जवानी के दिनों में कमलाबाई और उसका पति पलसराम दिहाड़ी मज़दूरी में कड़ी मेहनत किया करते थे। कमलाबाई मीलों पैदल चलकर जंगल से जानवरों के लिए चारा लेकर आती थी। गाँव के किसानों को चारा बेचकर उसे थोड़ी-बहुत आमदनी और मिल जाती थी। इस तरह तिनका-तिनका अपनी मेहनत की कमाई जोड़कर पति-पत्नी ने जंगल किनारे की साढ़े चार एकड़ ज़मीन ख़रीद ली। उस ज़मीन पर उन्होंने अपने बच्चों के साथ मेहनत की और एक कुआँ भी खोद लिया। अब समस्या यह थी कि खेत उनके घर से क़रीब छः किलोमीटर दूर था और खेत में जब देखो तब, जंगली सूअर घुस आया करते और फ़सल ख़राब कर जाते। कमलाबाई और पलसराम इतना पैसा भी नहीं जोड़ पाए कि खेत में बागड़ लगा सकें। अपनी साढ़े चार एकड़ की खेती करने के साथ ही घर ख़र्च चलाने के लिए दोनों पति-पत्नी को मज़दूरी भी करनी पड़ती। ऐसे में ही उनका एक बेटा चल बसा। पलसराम ने दुखों के इस अंतहीन सिलसिले से परेशान होकर कीटनाशक पी लिया और जान दे दी।

बची कमलाबाई। वो दोनों ज़िम्मेदारियाँ निभाती रही। अपनी खेती करना भी उसने जारी रखा और मज़दूरी भी करती रही। वो पुराने क़र्ज़े भी चुकाती रही। अब वो अपनी एक अधटूटी झोपड़ी में बेटे-बहू और दो पोतों के साथ रहती है। लोग उसके बारे में सोचते हैं कि बेचारी बूढ़ी औरत है, दलित औरत है, विधवा औरत है, लेकिन वो अपने बारे में ऐसा नहीं सोचती। वो सोचती है कि वो एक किसान है जो अपने घर से छः किलोमीटर दूर मौजूद खेत तक अपने पोतों के साथ पैदल जाती है, मेहनत करती है और उसे अपने बारे में ऐसा सोचकर गर्व होता है।

(*सुसाइड्स आर अबाउट लिविंग, नॉट डेड, पी. साईंनाथ, दि हिन्दू, 21 मई 2007*)

इन दोनों ही मामलों में पति अपनी ज़मीन और अपना क़र्ज़ दोनों ही पत्नी के ज़िम्मे छोड़ मर गए। दूसरे मामलों में ऐसा होता है कि विधवा औरत को अपने मृत पति की ज़मीन पर खेती करने का अधिकार हासिल करने के लिए भी लड़ना होता है। ज़्यादातर मामलों में होता यह है कि इधर आदमी मरा नहीं, उधर भाई-भतीजे और परिवार-ख़ानदान के दूसरे मर्द ज़मीन पर अपना अधिकार जमाने आ जाते हैं। उसी की खेती से होने वाली आमदनी में से औरत को बस थोड़ा गुज़ारे लायक़ हिस्सा दे दिया जाता है। लेकिन हक़ीक़त यह है कि ज़्यादा और ज़्यादा महिलाएँ जानना चाहती हैं कि उनके पति की कितनी ज़मीन थी, कितना उन्होंने क़र्ज़ लिया, वग़ैरह। वे जानना चाहती हैं कि उनके ऊपर क्या ज़िम्मेदारियाँ हैं और उनके पास क्या संसाधन हैं। वे हालात से ख़ुद निपटना चाहती हैं।

ज़मीन पर अपना नियंत्रण हासिल कर पाना एक लम्बे संघर्ष का एक छोटा-सा हिस्सा है। एक किसान विधवा के लिए अपने मृत पति की ज़मीन को अपने नाम पर करवाने में लोहे के चने चबाने पड़ जाते हैं। जब तक ज़मीन किसान विधवा के नाम पर नामांतरित न हो जाए तब तक उसे न संस्थागत क़र्ज़ मिल सकता है और न ही कोई अन्य आधिकारिक सहायता। कोई बड़ी ज़रूरत आ जाए तो वो न तो अपने पति की ज़मीन बेच सकती है, न बैंक आदि में गिरवी रख सकती है। अगर वो चाहे कि ज़मीन बेचकर कोई और व्यवसाय शुरू कर ले तो वो भी संभव नहीं रहता क्योंकि ज़मीन उसके नाम पर होती ही नहीं है। पति अगर मर गया है तो ज़मीन उसकी पत्नी के नाम पर नामांतरित हो जानी चाहिए - यह लिखने में जितना आसान है, उतना ही करने में कठिन। यथार्थ में होता यह है कि पति के मरने के बाद पता चला कि ख़ुद उसी के नाम पर ज़मीन नहीं हुई थी और उसके पिता के नाम पर ही चली आ रही थी। परिवार में आपसी सामंजस्य से भाइयों को अलग-अलग हिस्से खेती करने के लिए दे दिए जाते हैं लेकिन उनका सरकारी कागज़ों में कोई रिकॉर्ड नहीं होता। अनेक दफ़ा विधवा के ससुराल वाले कागज़ हों, तो भी देने से इन्कार कर देते हैं। कई बार ऐसे भी मामले होते हैं कि किसान विधवा के पास इतने पैसों का कोई इंतज़ाम नहीं होता जिनकी ज़रूरत ज़मीन की रजिस्ट्री के नामांतरण के लिए और रिश्वतें देने के लिए होती है। यानि किसान विधवा के सामने संघर्षों का एक अंतहीन सफ़र होता है जिसकी यह गारंटी भी नहीं होती कि सफ़र ख़त्म होने पर मंज़िल हासिल हो ही जाएगी।

प्रवासी मज़दूरों की माँएँ और पत्नियाँ

महिलाओं को एक और स्थिति में खेती की ज़मीन पर नियंत्रण हासिल हो जाता है जब उनके पति या बेटे रोज़गार की तलाश में दूसरे शहरों की ओर चले जाते हैं। हालाँकि इस मामले में नियंत्रण अलग किस्म का होता है। किसान के ख़ुदकुशी करने की स्थिति में औरत के पास ज़मीन का जो नियंत्रण आता है, वो अलग किस्म का होता है। ख़ुदकुशी एक व्यक्तिगत मामला होता है जबकि मज़दूरी की तलाश में बाहर जाना सामूहिक तौर पर होता है। कई बार किसी-किसी क्षेत्र से गाँव के गाँव ऐसे विस्थापित होते हैं कि उनमें सिर्फ़ बुजुर्ग, बच्चे और महिलाएँ बचती हैं और सारे जवान आदमी गाँव छोड़ जाते हैं। आमतौर पर मज़दूरों का ठेकेदार किसी एक गाँव से इकट्ठे नौजवान आदमियों को और ज़रूरत के मुताबिक़ कभी-कभी औरतों को भी दूसरे गाँव या शहर खेती या गैर कृषि कार्य के लिए ले जाता है। कोई ठेकेदार न भी हो तो भी ज़रूरत पड़ने पर ग्रामीण लोग समूह में ही गाँव छोड़ते हैं। गाँव वालों में से ही कोई एक थोड़ा समझदार, अनुभवी और हिसाब-किताब जानने वाला उनके दल का मुखिया होता है।

मई 2004 में प्रसिद्ध पत्रकार जयदीप हार्डीकर ने छत्तीसगढ़ के जशपुर ज़िले के बेतारा गाँव की एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उस इलाक़े में दो वर्षों तक लगातार सूखा पड़ा था। बेतारा सहित आसपास के अनेक गाँवों के लोग काम की तलाश में नज़दीकी शहर नागपुर पलायन कर गए थे। अब औरतों के ज़िम्मे ज़मीन और खेती थी। वही ज़मीन और खेती जिससे आदमी गुजारे लायक़ कुछ कमा नहीं सके। जब खेती के काम में ज़्यादा मज़दूरों की ज़रूरत पड़ी तो इन महिलाओं ने आस-पड़ोस के गाँवों में मज़दूरों को ढूँढ़ा। वहाँ के मर्द भी गाँव

छोड़ चले गए थे और सिर्फ़ औरतें ही बची थीं। तो गाँव की औरतों ने ही एक-दूसरे के साथ मिलकर एक-दूसरे के खेतों में काम किया। उन्हें मशीनें चलानी नहीं आती थीं तो जुताई, बुवाई, निंदाई, सिंचाई आदि सारे काम हाथों से ही किये। दिलचस्प बात यह रही कि जब फ़सल कटाई का वक़्त आया तो गाँव के मर्द वापस लौट आये और खेती का नियंत्रण उन्होंने वापस अपने हाथों में ले लिया। जयदीप हार्डीकर ने लिखा कि उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश में अनेक गाँवों में यही हाल था। (माइग्रेशन, एग्रीकल्चर एंड वीमेन, जयदीप हार्डीकर, इंडिया टुगेदर, 1 मई 2004)

वर्ष 2017 में जयदीप हार्डीकर ने ही एक और रिपोर्ट लिखी। वो कहानी थी तमिलनाडु के तंजावुर ज़िले के कीलातिरुपंतिरुति गाँव की। गाँव के नज़दीक पहुँचने पर जयदीप ने देखा कि एक जगह मनरेगा का निर्माण कार्य चल रहा था जिसमें गाँव की क़रीब 100 औरतें काम कर रही थीं। उनमें से अधिकांश की उम्र 60 से ज़्यादा थी। वे अनुसूचित जाति की महिलाएँ थीं और या तो वे भूमिहीन परिवारों से आती थीं या फिर उनके परिवार के पास नाम मात्र की खेती थी। उनका गाँव कावेरी डेल्टा क्षेत्र में आता था जो अनेक वर्षों से चले आ रहे सूखे की वजह से लगभग उजड़ गया था। नौजवान मर्दों के साथ नौजवान औरतों ने भी गाँव छोड़ दिया था और वे काम की तलाश में तंजावुर, कोयंबटूर या चेन्नई चले गए थे। वर्ष 2016-17 में खेती से गाँव वालों को शून्य आमदनी हुई थी। खेती के अलावा तो वैसे भी शून्य ही थी। आख़िरकार ज़िंदगी बचाने के लिए गाँव की उन बुज़ुर्ग औरतों ने मनरेगा का काम ले लिया। यहाँ भी उन्हें दो-तीन महीनों तक उनका वेतन नहीं मिला। लेकिन वे डटी रहीं और हाथों में कुदाल-फावड़े लेकर साथ-साथ काम करती रहीं। उनके एक साथ होने ने उन सभी को हौसला दिया।

महिलाओं के भू-स्वामित्व को लेकर एक बहुत अच्छी किताब 'ए फ़ील्ड ऑफ़ वन्स ओन' की लेखिका बीना अग्रवाल खेती में मौजूद महिलाओं को "बिना विरासत की किसान और बिना फायदे के मेहनत करने वाली मज़दूर" कहती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं की दोयम दर्जे की स्थिति होने की वजह से उन्हें भीषण विपरीत हालात का सामना करना पड़ता है। विपरीत हालात का सामना करने के कारण उनमें एक मज़बूत सहनशक्ति विकसित हो जाती है। जब पूरे गाँव पर कोई प्रतिकूल परिस्थिति आती है तो ये महिलाएँ एक-दूसरे के क़रीब आती हैं और सामूहिक रूप से प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करने से उनके भीतर सामूहिकता के प्रति एक ज़बर्दस्त आत्मविश्वास भी पैदा होता है। इस तरह, उनकी कमज़ोर स्थिति उनके भीतर वो क्षमता विकसित कर देती है जिसकी वजह से वे संघर्षों में अग्रणी भूमिका निभा सकती हैं।

इंक़लाबी कार्यक्रम में महिलाओं की अग्रणी भूमिका

खेती के संकट के समाधान के लिए जो प्रस्तावित कार्यक्रम है, उसमें सबसे अहम काम है - ज़मीन की मिल्कियत व्यक्तिगत न रखते हुए उसे सामाजिक स्वामित्व में बदल डालना। ज़मीन और मज़दूरी या भूमि और श्रम के सामूहिक आर्थिक आधार पर एक ऐसे बाज़ार और उत्पादन आधार की बुनियाद डाली जा सकेगी जो लोगों का हितैषी हो, न कि मुनाफ़े का।

किसानों को अपनी बाप-दादों के ज़माने से चली आ रहीं निजी ज़मीनें आपस में मिलाकर एक ऐसे आकार का साझा खेत बनाने के लिए तैयार करना बेहद मुश्किल काम है। चाहे कितनी भी छोटी जोत क्यों न हो, चाहे उस ज़मीन से कुछ भी पैदावार न हो रही हो, फिर भी वो ज़मीन किसी एक किसान की निजी संपत्ति है, इस एहसास से उसे अपने अस्तित्व की सुरक्षा महसूस होती है। वो किसान अपनी खेत की ज़मीन को किसी साझा उपक्रम का हिस्सा बनाने को तैयार हरगिज़ नहीं होगा। पूरे देश के स्तर पर खेती की ज़मीन को निजी स्वामित्व से निकालकर सामाजिक स्वामित्व के हिस्से में ले आने का काम पूर्व समाजवादी देशों में ही किया गया था। उन देशों में राज्य सत्ता की भूमिका को केन्द्रीय बनाकर ये काम अंजाम दिया गया था। हमारे देश की राज्य सत्ता के चरित्र को देखते हुए उससे यह उम्मीद करने का फ़िलहाल कोई आधार नहीं है। भारत में यह काम उन ज़मीनी संगठनों को करना होगा जो छोटे किसानों और भूमिहीनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह

एक जनता का कार्यक्रम होगा और इसे एक जनांदोलन की शक्ल में होना होगा। इस जनांदोलन को राज्य से किसी प्रकार के संरचनागत या भौतिक मदद के बिना ही और अनेक बार दमन झेलते हुए भी आगे बढ़ना होगा। खेत मज़दूरों और छोटे व सीमान्त किसानों के ये संगठन अपने सदस्य किसानों और मज़दूरों को खेती के सामूहिक आर्थिक आधार बनाने, अपनी ज़मीनें मिलाकर खेती करने और अपने श्रम को योजनाबद्ध तरह से सामूहिकता में इस्तेमाल करना मनवाने के लिए अपने कारआमद तरीके खोजने होंगे।

सबसे पहले तो सीमान्त और छोटे किसानों के समुदाय में से ऐसे उपसमूह खोजने होंगे जो साझे की खेती के लिए तुरंत तैयार हो सकें। जो उत्पादन और फ़सल बेचने के लिए साझा काम करने को तैयार हों। एक ऐसा उपसमूह छोटे और सीमान्त किसान परिवारों की महिलाएँ हो सकती हैं। जो किसान विधवाएँ हैं और जो पलायन कर गए किसानों की पत्नियाँ हैं, वे अपने खेतों पर अकेले-अकेले काम करती रहती हैं और उनके पास कोई संस्थागत सहारा भी नहीं होता। ग्रामीण भारतीय समाज में औरतों के प्रति जो सामंती मानसिकता है, उसमें मर्द औरत के आदेश के नीचे काम करने में भी अपनी हेठी समझते हैं। अगर ऐसी महिलाओं को अपनी जैसी और महिलाओं के साथ मिलकर काम करने का, खेती करने का मौका मिले तो वे ज़रूर ही इस पहल का स्वागत करेंगी।

जिस तरह ज़मीन साझा करने की बात है, उसी तरह श्रम को भी इकठ्ठा करने की ज़रूरत है। जो भूमिहीन खेत मज़दूर महिलाएँ हैं, वे भी तुरंत मज़दूरों के ऐसे साझेदारी के समूह बनाने के लिए तैयार हो जाएँगे। खेती के कामों में भी इस तरह का बँटवारा रहता है कि आदमी तो अलग-अलग काम कर लेता है लेकिन महिलाएँ ज़्यादातर सामूहिक तौर पर काम करती हैं। जर्मनी की नारीवादी अध्येता मारिया मिएस ने धान की रुपाई करने वाली भारतीय किसान महिलाओं के बारे में यह वर्णन किया है:

धान के रोपे लगाते हुए साथ-साथ काम करते हुए 20-30 महिलाएँ गीली मिटटी में धँसे पैरों के साथ एक-एक रोपा लगाते हुए आगे बढ़ती हुईं ... एक कतार में काम करती हुईं ...उनके एक हाथ में रोपे का बंडल होता है और दूसरे हाथ से वे गीली मिटटी में एक-एक रोपा लगाती जाती हैं। एक साथ उनकी कमर झुकती है और एक साथ वे आगे बढ़ती हैं। सभी मज़दूर महिलाओं का शरीर जैसे बिलकुल एक लय में हिलता-डुलता है।

(*इंडियन वीमेन इन सब्सिस्टेन्स एंड एग्रीकल्चरल लेबर, वीमेन वर्क एंड डेवलपमेंट सीरीज़, नंबर 12, जेनेवा, आईएलओ, 1986*)

इस तरह काम करने से महिलाओं के भीतर एक समान अनुभूति पैदा होती है जिससे सामूहिक काम के प्रति उनके भीतर एक सहज प्रवृत्ति आ जाती है।

खेती में शामिल महिला श्रमिकों का एक तीसरा हिस्सा ऐसा होता है जो अपने परिवार की खेती में सहायक श्रमिक के तौर पर काम करती हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया कि ऐसी महिलाओं ने पिछले एक दशक में अपने आपको बड़ी तादाद में काम करने वालों (वर्कफोर्स) की श्रेणी से बाहर कर लिया है। अगर आर्थिक आधार को सामूहिक बनाने की दिशा में महिलाओं का आंदोलन खड़ा होता है तो ये महिलाएँ भी पारिवारिक खेती में मौजूद पितृसत्ता के दायरों को लाँघकर वापस काम करने वालों की श्रेणी में आने के लिए प्रेरित होंगी। तब वे अपने श्रम पर भी अपना अधिकार जताएँगी और संसाधनों का जो भौतिक आधार है, उसमें भी अपना अधिकार दख़ल करेंगी।

साझा या सामूहिक आर्थिक आधार किस तरह समाज का रूपांतरण कर सकता है, यह थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए हम केरल में कुडुम्बश्री मिशन के अंतर्गत चल रहे महिलाओं द्वारा किये जा रहे सामूहिक खेती कार्यक्रम के बारे में यहाँ संक्षेप में बताएँगे।

केरल में कुडुम्बश्री की महिलाओं द्वारा की जा रही सामूहिक खेती

कुडुम्बश्री का अर्थ होता है परिवार का यश और गौरव। केरल में कुडुम्बश्री मिशन एक राज्यव्यापी नेटवर्क है जिसमें प्रत्येक परिवार से एक महिला सदस्य है। यह नेटवर्क पड़ोसी समूहों के ज़रिये प्रखंडों, पंचायतों, वार्डों के ज़रिये ज़िले तक आपस में जुड़ा होता है। फिर राज्य स्तर पर सभी ज़िलों के कुडुम्बश्री ज़िला मिशन आपस में फ़ेडेरेशन के माध्यम से जुड़े होते हैं। इस नेटवर्क में क़रीब 40 लाख महिलाएँ हैं जो 40 लाख परिवारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। एक तरह से केरल राज्य के सभी परिवार कुडुम्बश्री के अंतर्गत जुड़े हुए हैं। दरअसल इस मिशन की शुरूआत 1998 में वाम मोर्चे की सरकार ने ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम के तौर पर की थी। वक़्त के साथ-साथ इसके कार्यों का दायरा फैलता गया। इसने महिलाओं के सशक्तिकरण से सम्बंधित हर दिशा में अपना विस्तार किया और आर्थिक विकास और राजनीतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने का बीड़ा उठाया। अधिकांश राज्यों में महिलाओं के बचत समूह बनाये जाते हैं। कुडुम्बश्री में पड़ोसी समूहों में से बचत समूह बनाने के साथ ही अनेक ऐसी गतिविधियाँ शुरू की गईं जिनसे महिलाओं को आमदनी हो। ये समूह स्थानीय स्व शासन (लोकल सेल्फ गवर्नमेंट) के साथ मिलकर भी अनेक ज़िम्मेदारियाँ निभाते हैं। ग्रामीण इलाक़ों में जो एक बहुत महत्त्वपूर्ण गतिविधि कुडुम्बश्री मिशन के अंतर्गत शुरू की गई, वो थी सामूहिक खेती (कलेक्टिव फार्मिंग)। भूमिहीन परिवारों और छोटे किसानों के परिवारों की महिलाओं को

चिह्नित कर उन्हें साथ में लाकर नाबार्ड (नेशनल बैंक ऑफ़ एग्रीकल्चरल एंड रूरल डेवलपमेंट) के निर्देशों के मुताबिक़ साझा ज़िम्मेदारी के समूह (जॉइंट लायबिलिटी ग्रुप या जेएलजी) बनाये गए। जेएलजी के सदस्य गाँव में कोई ऐसी ज़मीन का टुकड़ा ढूँढ़ते हैं जो लीज़ (किराये) पर लिया जा सके। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ज़्यादा आमदनी और रोज़गार के बेहतर अवसरों की तलाश में केरल से बड़े पैमाने पर लोग खाड़ी के देशों की तरफ़ गए हैं। नतीजतन, खेती से खेती की ज़मीन भी बाहर हो गई और खेती में काम करने वाले लोग भी। धीरे-धीरे केरल के लगभग हर गाँव में पड़ती की ज़मीन, जिस पर खेती नहीं होती, बढ़ती गई। वो ज़मीन लीज़ पर उपलब्ध हो जाती है। जेएलजी के सदस्यों द्वारा उस ज़मीन को सामूहिक तौर पर लीज़ पर ले लिया जाता है और उस पर सहकारिता (कोऑपरेटिव) के तरीके से खेती की जाती है। खेती के जो फ़ैसले होते हैं, उनमें सभी सदस्यों की सहभागिता रहती है और प्रत्येक सदस्य की क्षमता, कौशल, योग्यता के मुताबिक़ कामों का भी बँटवारा किया जाता है। फिर फ़सल आने पर जो कुल हासिल होता है, उसे सभी सदस्यों के बीच बराबर बाँट लिया जाता है। इस तरह की खेती कर रहे जेएलजी समूहों को सरकार से भी प्रोत्साहन और अनेक तरह की मदद मिलती है। सरकार की तरफ़ से हासिल होने वाली मदद में सबसिडी युक्त क़र्ज़, सबसिडी पर खाद, बीज तो मिलते ही हैं, साथ ही मज़दूरी पर होने वाला ख़र्च भी मनरेगा के ज़रिये दिया जाता है। कुडुम्बश्री की महिलाओं को जैविक खेती करने का और खेती में काम आने वाली मशीनों के इस्तेमाल और रख-रखाव का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। अच्छी फ़सल होने पर पहले उन्हें उत्पादन प्रोत्साहन के तौर पर नक़द पैसे भी दिए जाते थे। यह महिलाएँ धान, केला, सब्ज़ियाँ और ज़मीन के भीतर होने वाली कंद फ़सलों की खेती करती हैं। वर्ष 2019 तक 74,000 जेएलजी रजिस्टर्ड हो चुके थे जो कुल 57,000 हेक्टेयर ज़मीन पर खेती कर रहे थे।

बहुत थोड़े संसाधनों से कुडुम्बश्री की महिला किसानों ने केरल की खेती का परिदृश्य बदल दिया है। अनेक गाँवों में महिलाओं ने पड़ती या खाली पड़ी ज़मीन के हर टुकड़े को हरे-भरे खेत में बदल दिया है। केरल में धान की खेती को पुनर्जीवित करने के लिए कुडुम्बश्री की महिला किसानों ने एक हरित सेना (ग्रीन आर्मी) भी बनायी है। प्रदेश में सरकार की ओर से चलाये जा रहे जैविक खेती के अभियान में भी वो अग्रणी और नेतृत्वकारी भूमिका में हैं। वे केले की विशिष्ट क़िस्मों का उत्पादन करती हैं। उनके प्रयासों से हर गाँव में खाने के काम में आने वाली फ़सलों की उपलब्धता बढ़ गई है। इससे परिवार में भी उन्हें प्रशंसा मिलती है और पूरे ग्रामीण समुदाय में भी। गाँवों के कृषि परिदृश्य को बदलने की उपलब्धि तो ठोस है ही लेकिन समान आर्थिक आधार पर साथ में काम करने के अनुभव ने जेएलजी की सदस्य महिलाओं के जीवन और दृष्टि को अंदर से भी बदल दिया है। अपनी सामूहिक शक्ति में उनका आत्मविश्वास ज़बर्दस्त तौर पर बढ़ा है। अब उनके सामने चाहे वित्तीय आकस्मिकता आये या किसी सामान की ज़रूरत हो, वे उस सबसे स्वयं निपटने में सक्षम महसूस करती हैं। अब उन्हें बाहर की किसी मदद या परिवार के मर्द सदस्यों की सहायता की भी ज़रूरत नहीं महसूस होती। अब उनकी दुनिया भी सिर्फ़ अपने परिवार तक ही सीमित नहीं रह गई है। जाति-धर्म के अंतर से ऊपर उठकर वे न केवल अपने समूह की अन्य महिलाओं के सुख-दुःख में सहभागी होती हैं बल्कि वे पूरे प्रदेश की कुडुम्बश्री की महिलाओं के बारे में, प्रदेश के ग्रामीणों के बारे में, एक तरह से पूरे दमित-शोषित तबक़े के बारे में सोचती हैं।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुडुम्बश्री की महिलाओं के सामूहिक खेती वाले कार्यक्रम ने ज़मीन और श्रम के संबंधों में एक नया वैकल्पिक संस्थागत बदलाव किया है। निजी मिल्कियत वाली व्यवस्था से इन महिलाओं ने साझा सामाजिक आर्थिक आधार बनाया है। ये सच है कि अभी वे मुख्यतया लीज़ की ज़मीन को सामूहिक आधार पर ले रही हैं लेकिन इससे यह उम्मीद तो बनती ही है कि वे धीरे-धीरे वे एक अधिक स्थायी क़िस्म की, ज़मीन के सामाजिक स्वामित्व वाली व्यवस्था की ओर आगे बढ़ेंगी। सामूहिक आर्थिक आधार पर काम करने से कुडुम्बश्री की महिलाओं को जो फ़ायदा हुआ है, उसे देखकर, उसके बारे में सुनकर

अन्य जगहों के छोटे किसान और भूमिहीन श्रमिक भी इस दिशा में क़दम आगे बढ़ाने का सोचेंगे।

ये बात साफ़ है कि केरल में जिस तरह कुडुम्बश्री का प्रयोग किया गया, उसे अन्य राज्यों में ठीक वैसा का वैसा नहीं अपनाया जा सकता। दूसरे राज्यों में महिलाओं की स्थिति भी अलग है और उनके लिए जिस तरह का माहौल चाहिए, वह भी नहीं है। लेकिन एक बार अगर महिलाएँ इस सामूहिक या साझेदारी के मूल विचार को अपना लें तो वे अपनी ताक़त और अपनी सीमाओं को समझते हुए अपने लिए नये रास्ते तैयार कर लेंगी।

आर्थिक लाभ से बड़ी कुछ बातें

कुडुम्बश्री मिशन के तहत साझा खेती करने वाली महिलाओं के सामने वर्तमान चुनौतियाँ भी हैं और भविष्य के सवाल भी। केरल में ज़मीन की उपलब्धता काफ़ी कम है और ज़मीन को लीज़ पर देना क़ानूनी तौर पर प्रतिबंधित भी है। शुरू में जब महिलाएँ समूह बनाकर किसी बंजर या पड़ती ज़मीन को लीज़ पर या मालिक की शर्तों पर लेती हैं तब ज़मीन मालिक को कोई तकलीफ़ नहीं होती लेकिन जैसे ही 3-4 वर्षों में ज़मीन उपजाऊ हो जाती है, मालिक उस ज़मीन पर ख़ुद ही खेती करना चाहता है और अपना मौखिक अनुबंध समाप्त कर देता है। इस मामले में फ़िलहाल शासन-प्रशासन भी कुछ करने में असमर्थ है लेकिन जल्द ही इसका कोई समाधान साझा तौर पर निकलेगा, ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

देखा जाए तो आर्थिक तौर पर इन महिलाओं को कोई बहुत महत्त्वपूर्ण लाभ नहीं होता है। लेकिन आर्थिक लाभ से बड़ी कुछ ऐसी बातें हैं जो इन महिलाओं को साझा खेती के लिए प्रोत्साहित करती हैं।

परिवार का बेहतर स्वास्थ्य

अव्वल तो केरल में सब्ज़ी का और धान का उत्पादन काफ़ी घट गया था और केरल को अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए नज़दीकी राज्य तमिलनाडु से सब्ज़ियों और खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता था। कुडुम्बश्री की महिलाओं ने काफ़ी हद तक सब्ज़ी के मामले में न केवल केरल को आत्मनिर्भर बना दिया है बल्कि अपने परिवार के स्वास्थ्य को भी सुरक्षित किया है। तमिलनाडु से आने वाली सब्ज़ियों में ख़तरनाक हद तक कीटनाशकों और अन्य रासायनिक दवाओं का प्रयोग किया जाता था। कुडुम्बश्री की यह महिलाएँ चूँकि व्यावसायिक पैमाने पर तो खेती करती नहीं हैं, जो उगाती हैं, उसका बड़ा हिस्सा स्वयं के परिवार में ही इस्तेमाल करती हैं। इसलिए वे आर्थिक मुनाफ़े से ज़्यादा अपने परिवार के स्वास्थ्य के प्रति संजीदा रहती हैं।

राजनीतिक ताक़त

दूसरा बड़ा लाभ है उनका घर के बाहर की दुनिया से वाबस्ता होना। वो भी सामूहिक तौर पर। उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है। अनेक बार वे अपने समकक्ष पुरुष किसानों से बेहतर खेती करती हैं जिसके लिए उन्हें अवार्ड मिलते हैं। अखबारों में उनकी उपलब्धियों की चर्चा होती है। यह सब उन्हें गहरे आत्मविश्वास से भरता है। उसी आत्मविश्वास ने उन्हें राजनीति में अपनी जगह दख़ल करने के लिए प्रेरित किया और आज की स्थिति में जितनी महिलाएँ सरपंच चुनी गईं हैं, उनमें से बहुलांश कुडुम्बश्री की पृष्ठभूमि से आती हैं। वे खेतों में काम करती हैं, वे खेती की साझेदारी का हिसाब-किताब रखती हैं, वे सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों से बात करती हैं और काम करवाती हैं, वे स्थानीय नेताओं से भी सामूहिक तौर पर निपटना सीख गईं हैं। वे तमाम अलग-अलग राजनीतिक दलों से सम्बद्ध हो सकती हैं लेकिन कुडुम्बश्री में वे कुडुम्बश्री की महिलाओं की तरह एकजुट रहती हैं। एक दफ़ा सन 2011 में जब केन्द्र सरकार ने कुडुम्बश्री को दिए जाने वाले फण्ड में कटौती कर दी और उस फण्ड में से एक हिस्सा कॉंग्रेस नेतृत्व वाली यूडीएफ़ सरकार द्वारा शुरू की गयी एक संस्था जनश्री को देना चाहा तो कुडुम्बश्री की हज़ारों महिलाओं ने केरल के कोने-कोने से, गाँवों और शहरों से त्रिवेन्द्रम आकर राज्य सचिवालय को घेर लिया। उन्होंने कहा कि वे तब तक घेरा डाले रहेंगी जब तक कि उनकी माँगें नहीं मान ली जातीं। उनमें सभी दलों की महिलाएँ थीं। उनकी भी जिनकी राज्य या केन्द्र में

सरकार थी। लेकिन वे सब अपने दलों के निर्देशों से ऊपर उठकर सिर्फ़ कुडुम्बश्री की रक्षा के लिए आ डटी थीं। और वे वाक़ई नहीं हटीं। चौबीसों घंटे और सातों दिन क़रीब पाँच हज़ार महिलाएँ सचिवालय को घेरे रहीं। जब एक टुकड़ी को घर जाना होता तो दूसरे गाँवों से महिलाओं के दूसरे जत्थे आ जाते। यह सब इतना सुनियोजित था कि लगता ही नहीं था कि इस सबका क्रियान्वयन महिलाएँ कर रही हैं। आख़िरकार सरकार को अपना फ़ैसला वापस लेना पड़ा और कुडुम्बश्री की महिलाओं की जीत हुई।

वे समंदर और नदी किनारे के दलदली इलाक़ों में खेती करती हैं, वे अंदरूनी इलाक़ों में जंगली सूअरों और अन्य जानवरों का ख़तरा उठाकर खेती करती हैं। वे इडुक्की के पहाड़ी इलाक़ों के चाय बाग़ानों में ऊँचे पहाड़ों पर खेती करती हैं। वे अपनी खेती की ज़मीन की सीमाओं पर बेकाम हो चुकी रंग-बिरंगी साड़ियों को बाँध देती हैं। किसी ने बताया कि वे इसलिए बाँधती हैं ताकि पक्षी और छोटे-मोठे पशु दूर रहें। किसी ने बताया कि वे खेत की पहचान के लिए बाँधती हैं। वजह जो भी हो, केरल में कुडुम्बश्री के तहत साझा खेती करने वाली महिलाओं ने पूरे केरल में अनेक जगहों पर रंग-बिरंगी साड़ियाँ बाँधी हुई हैं और वे खेती की हरियाली के साथ उन महिलाओं की चहकती, उत्साह भरी कोशिशों के साथ बिलकुल मेल खाती हैं।

अपनी दुनिया से आगे भी हैं अनेक दुनिया

बाढ़ पीडितों की मदद

वर्ष 2018 में केरल ने जो भीषण बारिश और बाढ़ झेली, उससे राज्य की हर मशीनरी चरमरा गई थी। उस हाहाकारी बाढ़ और तूफ़ान ने 453 ज़िंदगियाँ ले लीं और हज़ारों को बेघर कर दिया। संपत्ति के नुकसान का तो कोई अंदाज़ा ही नहीं लगाया जा सकता। सरकारी मशीनरी तो जो कर सकती थी, वो कर ही रही थी लेकिन देश के अनेक हिस्सों से और केरल के भी बहुत सारे सामान्य नागरिकों ने बाढ़ पीड़ितों को बचाने और उनकी मदद के लिए स्वैच्छिक रूप से अपनी सेवाएँ दीं। इस दौरान कुडुम्बश्री की महिलाओं के संगठित जत्थों ने जो काम किया, वो अपने आप में एक मिसाल बन गया।

15 अगस्त 2018 की सुबह अलेप्पी ज़िले के चेंगानूर तालुक़ की मलाकुड़ा पंचायत की कुडुम्बश्री की सीडीएस (कम्युनिटी डेवलपमेंट सोसाइटी) अध्यक्ष आर. सुजाता को पंचायत के उपाध्यक्ष का बहुत हड़बड़ाया और डरा हुआ फ़ोन आया। उन्हें गाँव के निचले हिस्से की तरफ़ तुरंत मदद की ज़रूरत थी जहाँ पानी तेज़ी से बढ़ता जा रहा था। उस वार्ड के लोग नज़दीक ही एक स्कूल में बनाये गए राहत शिविर में इकठ्ठा हो गए थे। वाहन से उन्हें सुरक्षित निकाल कर सुरक्षित ठिकाने तक पहुँचाने के लिए वालंटियर चाहिए थे। बेतहाशा बारिश जारी थी लेकिन फिर भी सुजाता ने तत्काल अपने सीडीएस की 11 महिलाओं को स्कूल भेजा। उन्हें वहाँ महिलाएँ, बुज़ुर्ग और एक 40 दिन पहले पैदा हुआ बच्चा मिला। कुडुम्बश्री के राहत दल ने फँसे हुए लोगों को निकाला, उन्हें गर्म पानी दिया, दलिया खिलाया और सूखे कपड़े पहनने को दिए। चौथे दिन तक बाढ़ पीड़ितों की संख्या 400 तक पहुँच गई। कुडुम्बश्री की महिलाओं ने रात-दिन एक कर दिया बाढ़-पीड़ितों की मदद करने में। वे गले-गले तक भरे पानी में और कीचड़ में फँसे हुए लोगों तक पहुँचीं। उन्होंने बच्चों और बुज़ुर्गों को बचाया। इस दौरान उनका सामना साँपों, बिच्छुओं और दूसरे जानलेवा कीड़े-मकोड़ों से भी हुआ। उनमें से अनेक बीमार भी पड़ीं। जैसे ही कोई महिला बीमार पड़ती, सुजाता तुरंत ही उसकी जगह दूसरी महिला को तैनात करती। (श्रीहरि पलिअथ की indiaspend.com में 13 अक्टूबर 2018 को प्रकाशित स्टोरी “हाउ पुअर वीमेन’स कलेक्टिव इस हेल्पिंग रिबिल्ड फ्लड रेकड केरला” का सार)

दूसरा क़िस्सा कोच्चि का है। सन्धिनी गोपा कुमार एक 34 वर्षीय महिला थी जो कुडुम्बश्री की सदस्या भी थी। बाढ़ में उसका घर पूरी तरह डूब गया था। वो अपने पति और दो छोटे बच्चों के साथ किसी तरह वहाँ से निकल गई थी। जब बाढ़ का पानी उतर गया और सन्धिनी अपने परिवार के साथ वापस घर पहुँची तो वहाँ के हालात देखकर उसके होश ही उड़ गए। ठहरे हुए पानी में गाय-भैंसों की लाशें फूलकर तैर रही थीं। पूरे इलाक़े में कीचड़ ही कीचड़ और कचरा इकठ्ठा था। इन सबको पार करके जब वो घर के अंदर दाख़िल हुए तो घुटनों-घुटनों तक कीचड़ घर के अंदर भरा हुआ था। सड़े हुए खाने और सड़ी हुई चीज़ों की गंध बर्दाश्त के बाहर थी। पूरे दो दिन की मेहनत के बाद घर रहने लायक़ हो पाया। उसका सारा फर्नीचर, बर्तन, कपड़े, कुछ भी इस्तेमाल लायक़ नहीं रह गया था। जब दो दिन वो अपना घर साफ़ कर रही थी तो वो लगातार सोच रही थी कि बाढ़ की वजह से उजड़ने वाले ऐसे कितने ही परिवार होंगे जिन्हें मदद की ज़रूरत होगी और जिनके पास कोई मदद नहीं होगी। उसने कुडुम्बश्री के अपने पड़ोसी समूह (नेबरहुड ग्रुप) की सदस्यों को बुलाया और उनके साथ मिलकर आसपास की सार्वजनिक उपयोग की जगहों को साफ़ करना शुरू कर दिया। उनके समूह में 10 सदस्य थे। उनका इरादा पक्का था। उन्होंने बिना रुके काम करना शुरू किया। सभी सदस्य महिलाओं ने मास्क और दस्ताने पहनकर पहले सरकारी स्कूल और डे-केयर सेंटरों की सफ़ाई शुरू की। फिर अस्पतालों और सड़कों को साफ़ किया। वे दो सप्ताह तक घर वापस नहीं गईं। वे जहाँ साफ़-सफ़ाई कर रहीं थीं, वहीं नज़दीक के राहत शिविरों में, परिचितों के घर रहीं। वे थकीं। वे बीमार हुईं। कभी-कभी वे घबरायीं भी। लेकिन वे अपने तय किए काम को पूरा करने में जुटी रहीं। सन्धिनी जब दो सप्ताह बाद वापस घर पहुँची तो वो अपने मोहल्ले-पड़ोस का एक जाना-पहचाना चेहरा थी। उसके प्रति सबका सम्मान बढ़ गया था। सन्धिनी इसे कुडुम्बश्री का सम्मान कहती है। (केरला फ्लड आफ्टरमैथ, बैटलिंग स्नेक्स एंड सीवेज टु क्लीन अ सिटी, 2 अक्टूबर 2018, बीबीसी)

कुडुम्बश्री का पूरे राज्य में गाँव-गाँव तक ज़बर्दस्त नेटवर्क फैला होने से किसी भी आकस्मिक आपदा से निपटने में संगठन की महिलाएँ सक्षम महसूस करती हैं। बाढ़ के वक़्त उन्होंने पीड़ितों के लिए राहत शिविर चलाये, खाने के पैकेट्स तैयार किये, कपड़े दिये, उन्होंने सामुदायिक रसोई चलायी, अवसादग्रस्त लोगों के लिए परामर्श केन्द्र चलाये। वर्ष 2018 की बाढ़ के वक़्त कुडुम्बश्री की 40,500 महिलाओं ने 10 बाढ़ग्रस्त ज़िलों में दो लाख घरों की सफ़ाई की और 12,000 सड़कें और सरकारी भवन साफ़ किये।

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

फ़ोकस ऑन द ग्लोबल साउथ

फ़ोकस ऑन द ग्लोबल साउथ एक एशिया आधारित क्षेत्रीय वैचारिक समूह है जो व्यापार एवं विकास की राजनीतिक अर्थशास्त्र, लोकतंत्र तथा जन विकल्पों की नीतियों का शोध और विश्लेषण करता है। यह राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जनांदोलनों के साथ और अन्य नागरिक संगठनों के साथ मिलकर काम करता है। इसके कार्यालय नयी दिल्ली, मनीला, नोम पेन्ह और बैंकॉक में हैं।

JOSHI-ADHIKARI INSTITUTE OF SOCIAL STUDIES

जोशी-अधिकारी इंस्टिट्यूट ऑफ़ सोशल स्टडीज़

जोशी-अधिकारी इंस्टिट्यूट ऑफ़ सोशल स्टडीज़ (जैस) एक शोध संस्थान है जो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर शोध कार्य तथा विचार-विमर्श के आयोजन करता है। इस संस्थान का उद्देश्य ज्ञान का ऐसा आधार तैयार करना है जो धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी मूल्यों पर विकास के वैकल्पिक मॉडल के निर्माण में योगदान दे सके।

ROSA LUXEMBURG STIFTUNG SOUTH ASIA

रोज़ा लक्ज़मबर्ग स्टिफटुंग, साउथ एशिया

रोज़ा लक्ज़मबर्ग स्टिफटुंग जर्मनी आधारित एक फाउंडेशन है जो महत्त्वपूर्ण सामाजिक विश्लेषण और नागरिक शिक्षण के मुद्दों पर दक्षिण एशिया और दुनिया के अन्य हिस्सों में काम करता है। यह संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहित करता है और इसका लक्ष्य समाज एवं नीति निर्माताओं व निर्णय करने वालों के सामने विकल्पों को प्रस्तुत करना है। यह उन शोध संगठनों, स्व-सशक्तिकरण में संलग्न समूहों और सामाजिक एक्टिविस्टों को सहायता देता है जो व्यापक सामाजिक और आर्थिक न्याय दे सकने वाले वैकल्पिक मॉडलों को विकसित करने की दिशा में पहल करते हैं।

कृषि अर्थशास्त्री जया मेहता और समाज विज्ञान के अध्येता विनीत तिवारी की यह महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट भारत में 2020 में लाये गए कृषि सुधारों के विश्लेषण और उनके विरोध में खडे हुए उस ऐतिहासिक और कामयाब किसान आंदोलन में महिलाओं की भूमिका को रेखांकित करती है जिसने दिसंबर 2021 में विवादास्पद कृषि क़ानूनों को वापस लेने के लिए भारत सरकार को मजबूर कर दिया था। इसके बाद यह रिपोर्ट भारत की खेती में मौजूद कमज़ोरियों की पडताल करती है जो नवउदारवाद के पिछले तीन दशकों में गहरे नासूर बन चुके हैं। खेती की ज़मीन के असमान वितरण, ज़मीनों के क़ब्ज़े , क़र्ज़ में डूबे किसानों की ख़ुदकुशी, किसानों के पलायन आदि मुद्दे इसमें शामिल हैं। यह रिपोर्ट भारत में स्थापित भूमि और श्रम के संबंधों को महिलाओं के दृष्टिकोण से पुनर्संयोजित करने के महत्त्व पर ज़ोर देती है और इस मामले में केरल में महिलाओं द्वारा की जा रही सामूहिक खेती से हासिल सबकों की ओर इशारा करती है। यह रिपोर्ट इस बात पर ज़ोर देती है कि एक मज़बूत महिला आंदोलन आर्थिक आधार को सामूहिकता और सामाजिकता में रूपांतरित कर सकता है। उसी से कृषि में मौजूद संकट का समाधान हो सकता है और उसी से महिलाओं का ज़मीन पर और अपने श्रम पर अधिकार भी मिल सकता है।